॥ श्रीहरिः ॥

414▲

तत्त्वज्ञान कैसे हो ?

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तत्त्वज्ञान कैसे हो?

एवं

मुक्तिमें सबका समान अधिकार

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

प्रायः प्रत्येक साधकके भीतर यह जिज्ञासा रहती है कि तत्त्वज्ञान क्या है? तत्त्वज्ञान सुगमतासे कैसे हो सकता है? आदि। इस जिज्ञासाकी पूर्ति करनेके लिये प्रस्तुत पुस्तक साधकोंके लिये बड़े कामकी है। इसमें जो बातें आयी हैं, वे केवल सीखने-सिखानेकी, सुनने-सुनानेकी नहीं हैं, प्रत्युत अनुभव करनेकी हैं। इस पुस्तकको पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्त्वज्ञान दूरसे देखनेमें तो कठिन दीखता है, पर प्रवेश करनेपर बड़ा ही सुगम और रसीला है।

परमात्मतत्त्वकी खोजमें लगे हुए साधकोंसे प्रार्थना है कि वे इस पुस्तकका अध्ययन-मनन करें और तत्त्वका अनुभव करें।

प्रकाशक
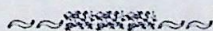
नोट—'मुक्तिमें सबका समान अधिकार' (कोड नं० 860) नामक पुस्तिकाको पुस्तक 'तत्त्वज्ञान कैसे हो?' (कोड नं० 414) सं० २०५८ के नवें संस्करणमें समाहित कर दिया गया है।

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरि: ॥

१. तत्त्वज्ञानका सहज उपाय

हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और उसमें अहम् नहीं है—यह बात यदि समझमें आ जाय तो इसी क्षण जीवन्मुक्ति है! इसमें समय लगनेकी बात नहीं है। समय तो उसमें लगता है, जो अभी नहीं है और जिसका निर्माण करना है। जो अभी है, उसका निर्माण नहीं करना है, प्रत्युत उसकी तरफ दृष्टि डालनी है, उसको स्वीकार करना है; जैसे—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

(मानस, बाल० ५८। ४)

दो अक्षर हैं—'मैं हूँ'। इसमें 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। 'मैं' जड़ है और 'हूँ' चेतन है। 'मैं' आधेय है और 'हूँ' आधार है। 'मैं' प्रकाश्य है और 'हूँ' प्रकाशक है। 'मैं' परिवर्तनशील है और 'हूँ' अपरिवर्तनशील है। 'मैं' अनित्य है और 'हूँ' नित्य है। 'मैं' विकारी है और 'हूँ' निर्विकार है। 'मैं' और 'हूँ' को मिला लिया—यही चिज्जडग्रन्थि (जड-चेतनकी ग्रन्थि) है, यही बन्धन है, यही अज्ञान है। 'मैं' और 'हूँ' को अलग-अलग अनुभव करना ही मुक्ति है, तत्त्वबोध है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि 'मैं' को साथ मिलानेसे ही 'हूँ' कहा जाता है। अगर 'मैं' को साथ न मिलायें तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। वह 'है' ही अपना स्वरूप है।

एक ही व्यक्ति अपने बापके सामने कहता है कि 'मैं बेटा

हूँ', बेटेके सामने कहता है कि 'मैं बाप हूँ', दादाके सामने कहता है कि 'मैं पोता हूँ', पोताके सामने कहता है कि 'मैं दादा हूँ', बहनके सामने कहता है कि 'मैं भाई हूँ', पत्नीके सामने कहता है कि 'मैं पति हूँ', भानजेके सामने कहता है कि 'मैं मामा हूँ', मामाके सामने कहता है कि 'मैं भानजा हूँ' आदि-आदि। तात्पर्य है कि बेटा, बाप, पोता, दादा, भाई, पति, मामा, भानजा आदि तो अलग-अलग हैं, पर 'हूँ' सबमें एक है। 'मैं' तो बदला है, पर 'हूँ' नहीं बदला। वह 'मैं' बापके सामने बेटा हो जाता है, बेटेके सामने बाप हो जाता है अर्थात् वह जिसके सामने जाता है, वैसा ही हो जाता है। अगर उससे पूछें कि 'तू कौन है' तो उसको खुदका पता नहीं है! यदि 'मैं' की खोज करें तो 'मैं' मिलेगा ही नहीं, प्रत्युत सत्ता मिलेगी। कारण कि वास्तवमें सत्ता 'है' की ही है, 'मैं' की सत्ता है ही नहीं।

बेटेकी अपेक्षा बाप है, बापकी अपेक्षा बेटा है—इस प्रकार बेटा, बाप, पोता, दादा आदि नाम अपेक्षासे (सापेक्ष) हैं; अतः ये स्वयंके नाम नहीं हैं। स्वयंका नाम तो निरपेक्ष 'है' है। वह 'है' 'मैं' को जाननेवाला है। 'मैं' जाननेवाला नहीं है और जो जाननेवाला है, वह 'मैं' नहीं है। 'मैं' ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है और 'है' ज्ञाता (जाननेवाला) है। 'मैं' एकदेशीय है और उसको जाननेवाला 'है' सर्वदेशीय है। 'मैं' से सम्बन्ध मानें या न मानें, 'मैं' की सत्ता नहीं है। सत्ता 'है' की ही है। परिवर्तन 'मैं' में होता है, 'है' में नहीं। 'हूँ' भी वास्तवमें 'है' का ही अंश है। 'मै-'पनको पकड़नेसे ही वह अंश है। अगर मैं-पनको न पकड़ें तो वह अंश ('हूँ') नहीं है, प्रत्युत 'है' (सत्तामात्र है) 'मैं'

अहंता है और 'मेरा बाप, मेरा बेटा' आदि ममता है। अहंता-ममतासे रहित होते ही मुक्ति है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

यही 'ब्राह्मी स्थिति' है*। इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होनेपर अर्थात 'है' में स्थितिका अनुभव होनेपर शरीरका कोई मालिक नहीं रहता अर्थात् शरीरको मैं-मेरा कहनेवाला कोई नहीं रहता।

मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, ईंट है, चूना है, पत्थर है—इस प्रकार वस्तुओंमें तो फर्क है, पर 'है' में कोई फर्क नहीं है। ऐसे ही मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं पशु हूँ, मैं पक्षी हूँ—इस प्रकार मनुष्य आदि योनियाँ तो बदली हैं, पर स्वयं नहीं बदला है। अनेक शरीरोंमें, अनेक अवस्थाओंमें चिन्मय सत्ता एक है। बालक, जवान और वृद्ध—ये तीनों अलग-अलग हैं, पर इन तीनों अवस्थाओंमें सत्ता एक है। कुमारी, विवाहिता और विधवा—ये तीनों अलग-अलग हैं, पर इन तीनोंमें सत्ता एक है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—ये पाँचों अवस्थाएँ अलग-अलग हैं, पर इन पाँचोंमें सत्ता एक है। अवस्थाएँ बदलती हैं, पर उनको जाननेवाला नहीं बदलता। ऐसे ही मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—इन पाँचों वृत्तियोंमें फर्क पड़ता है, पर इनको जाननेवालेमें कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि

---

* एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (गीता २। ७२)

'हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थितिमें यदि अन्तकालमें भी स्थित हो जाय तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

जाननेवाला भी बदल जाय तो इन पाँचोंकी गणना कौन करेगा? एक मार्मिक बात है कि सबके परिवर्तनका ज्ञान होता है, पर स्वयंके परिवर्तनका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। सबका इदंतासे भान होता है, पर अपने स्वरूपका इदंतासे भान कभी किसीको नहीं होता। सबके अभावका ज्ञान होता है, पर अपने अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। तात्पर्य है कि 'है' (सत्तामात्र) में हमारी स्थिति स्वतः है, करनी नहीं है। भूल यह होती है कि हम 'संसार है'—इस प्रकार 'नहीं' में 'है' का आरोप कर लेते हैं। 'नहीं' में 'है' का आरोप करनेसे ही 'नहीं' (संसार)की सत्ता दीखती है और 'है' की तरफ दृष्टि नहीं जाती। वास्तवमें 'है में संसार'—इस प्रकार 'नहीं' में 'है' का अनुभव करना चाहिये। 'नहीं' में 'है' का अनुभव करनेसे 'नहीं' नहीं रहेगा और 'है' रह जायगा।

भगवान् कहते हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है अर्थात् असत्का अभाव ही विद्यमान है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् सत्का भाव ही विद्यमान है।'

एक ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदिमें अपनी जो परिच्छिन्न सत्ता दीखती है, वह अहम् (व्यक्तित्व, एकदेशीयता) को लेकर ही दीखती है। जबतक अहम् रहता है, तभीतक मनुष्य अपनेको एक देश, काल आदिमें देखता है। अहम्के मिटनेपर एक देश, काल आदिमें परिच्छिन्न

सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत अपरिच्छिन्न सत्तामात्र रहती है।

वास्तवमें अहम् है नहीं, प्रत्युत केवल उसकी मान्यता है। सांसारिक पदार्थोंकी जैसी सत्ता प्रतीत होती है, वैसी सत्ता भी अहम्‌की नहीं है। सांसारिक पदार्थ तो उत्पत्ति-विनाशवाले हैं, पर अहम् उत्पत्ति-विनाशवाला भी नहीं है। इसलिये तत्त्वबोध होनेपर शरीरादि पदार्थ तो रहते हैं, पर अहम् मिट जाता है। अत: तत्त्वबोध होनेपर ज्ञानी नहीं रहता, प्रत्युत ज्ञानमात्र रहता है। इसलिये आजतक कोई ज्ञानी हुआ नहीं, ज्ञानी है नहीं, ज्ञानी होगा नहीं और ज्ञानी होना सम्भव ही नहीं। अहम् ज्ञानीमें होता है, ज्ञानमें नहीं। अत: ज्ञानी नहीं है, प्रत्युत ज्ञानमात्र है, सत्तामात्र है। उस ज्ञानका कोई ज्ञाता नहीं है, कोई धर्मी नहीं है, कोई मालिक नहीं है। कारण कि वह ज्ञान स्वयंप्रकाश है; अत: स्वयंसे ही स्वयंका ज्ञान होता है। वास्तवमें ज्ञान होता नहीं है, प्रत्युत अज्ञान मिटता है। अज्ञानके मिटनेको ही तत्त्वज्ञानका होना कह देते हैं।

एक प्रकाश्य (संसार) है और एक प्रकाशक (परमात्मा) है अथवा एक 'यह' है और एक उसका आधार, प्रकाशक, अधिष्ठान 'सत्ता' है। अहम् न तो प्रकाश्य ('यह') में है और न प्रकाशक (सत्ता) में ही है, प्रत्युत केवल माना हुआ है। जिसमें संसार ('यह') की इच्छा भी है और परमात्मा (सत्ता) की इच्छा भी है, उसका नाम 'अहम्' है और वही 'जीव' है। तात्पर्य है कि जड़के सम्बन्धसे संसारकी इच्छा अर्थात् 'भोगेच्छा' है और चेतनके सम्बन्धसे परमात्माकी इच्छा अर्थात् 'जिज्ञासा' है। अत: अहम् (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) में जड़-

अंशकी प्रधानतासे हम संसारको चाहते हैं और चेतन-अंशकी प्रधानतासे हम परमात्माको चाहते हैं*। माने हुए अहम्‌का नाश होनेपर भोगेच्छा मिट जाती है और जिज्ञासा पूरी हो जाती है अर्थात् तत्त्व रह जाता है। वास्तवमें परमात्माकी इच्छा भी संसारकी इच्छाके कारण ही है। संसारकी इच्छा न हो तो तत्त्वज्ञान स्वत:सिद्ध है।

साधनकी ऊँची अवस्थामें 'मेरेको तत्त्वज्ञान हो जाय, मैं मुक्त हो जाऊँ'—यह इच्छा भी बाधक होती है। जबतक अन्त:करणमें असत्‌की सत्ता दृढ़ रहती है, तबतक तो जिज्ञासा सहायक होती है, पर असत्‌की सत्ता शिथिल होनेपर जिज्ञासा भी तत्त्वज्ञानमें बाधक होती है। कारण कि जैसे प्यास जलसे दूरी सिद्ध करती है, ऐसे ही जिज्ञासा तत्त्वसे दूरी सिद्ध करती है, जब कि तत्त्व वास्तवमें दूर नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्त है। दूसरी बात, तत्त्वज्ञानकी इच्छासे व्यक्तित्व (अहम्) दृढ़ होता है, जो तत्त्वज्ञानमें बाधक है। वास्तवमें तत्त्वज्ञान, मुक्ति स्वत:सिद्ध है। तत्त्वज्ञानकी इच्छा करके हम अज्ञानको सत्ता देते हैं, अपनेमें अज्ञानकी मान्यता करते हैं, जब कि वास्तवमें अज्ञानकी सत्ता है नहीं। इसलिये तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (गीता ४। ३५); क्योंकि वास्तवमें मोह

* मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं—यह 'सत्' की इच्छा है; मैं सब कुछ जान लूँ, कभी अज्ञानी न रहूँ—यह 'चित्' की इच्छा है और मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दु:खी न होऊँ—यह 'आनन्द' की इच्छा है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्माकी इच्छा जीवमात्रमें रहती है। परंतु जड़से सम्बन्ध माननेके कारण उससे भूल यह होती है कि वह इन इच्छाओंको नाशवान् संसारसे ही पूरी करना चाहता है; जैसे—वह शरीरको लेकर जीना चाहता है, बुद्धिको लेकर जानकार बनना चाहता है और इन्द्रियोंको लेकर सुखी होना चाहता है।

है ही नहीं। मिटता वही है, जो नहीं होता और मिलता वही है, जो होता है।

साधकको स्वत:स्वाभाविक एकमात्र 'है' (सत्ता) का अनुभव हो जाय—इसीका नाम जीवन्मुक्ति है, तत्त्वबोध है। कारण कि अन्तमें सबका निषेध होनेपर एक 'है' ही शेष रह जाता है। वह 'है' अपेक्षावाले 'नहीं' और 'है'—दोनोंसे रहित है अर्थात् उस सत्तामें 'नहीं' भी नहीं है और 'है' भी नहीं है। वह सत्ता ज्ञानस्वरूप है, चिन्मयमात्र है। वह सत्ता नित्य जाग्रत् रहती है। सुषुप्तिमें अहंसहित सब करण लीन हो जाते हैं, पर अपनी सत्ता लीन नहीं होती—यह सत्ताकी नित्यजागृति है। वह सत्ता कभी पुरानी नहीं होती, प्रत्युत नित्य नयी ही बनी रहती है; क्योंकि उसमें काल नहीं है। उस सत्तामात्रका ज्ञान होना ही तत्त्वज्ञान है और सत्तामें कुछ भी मिलाना अज्ञान है।

२. तत्त्वज्ञान क्या है?

(आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान)

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें दो मुख्य बाधाएँ हैं—मोह और शास्त्रीय मतभेद। गीतामें आया है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(२। ५२-५३)

'जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलको तर जायगी, उसी समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा।'

'जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा।'

अज्ञान, अविवेकको 'मोह' कहते हैं। अविवेकका अर्थ विवेकका अभाव नहीं है, प्रत्युत विवेकका अनादर है। अतः विवेकका आदर नहीं करना, उसको महत्त्व नहीं देना, उसकी तरफ खयाल नहीं करना 'अविवेक' है। विवेक स्वतःसिद्ध है। विवेकज्ञान साधन है और तत्त्वज्ञान साध्य है। जैसे साध्यरूप तत्त्वज्ञान स्वतःसिद्ध है, ऐसे ही साधनरूप विवेकज्ञान भी स्वतःसिद्ध है।

अज्ञानका चिह्न 'राग' है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्त-व्यायामभूमिषु'**। शरीर, धन-सम्पत्ति, परिवार, मान-बड़ाई आदि

किसीमें भी राग होना अज्ञानका, मोहका लक्षण है। जितना राग है, उतना ही मोह है, उतना ही अज्ञान है, उतनी ही मूढ़ता है, उतनी ही गलती है, उतनी ही बाधा है। इस रागके ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अनेक रूप हैं।

दूसरी बाधा है—श्रुतिविप्रतिपत्ति अर्थात् शास्त्रीय मतभेद। कोई कहते हैं कि अद्वैत है, कोई कहते हैं कि द्वैत है, कोई कहते हैं कि विशिष्टाद्वैत है, कोई कहते हैं कि शुद्धाद्वैत है, कोई कहते हैं कि द्वैताद्वैत है, कोई कहते हैं कि अचिन्त्यभेदाभेद है—इस प्रकार अनेक मतभेद हैं। इन मतभेदोंके कारण साधकको बुद्धि भ्रमित हो जाती है और उसके लिये यह निश्चय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि कौन-सा मत ठीक है, कौन-सा बेठीक है!

—इस प्रकार मोह और शास्त्रीय मतभेद अर्थात् सांसारिक मोह और शास्त्रीय मोह—दोनोंसे तरनेपर ही तत्त्वज्ञानका, नित्ययोगका अनुभव होता है। केवल अपने कल्याणका उद्देश्य हो और रुपये-पैसे, कुटुम्ब-परिवार आदिसे कोई स्वार्थका सम्बन्ध न हो तो हम मोहरूपी दलदलसे तर गये! पुस्तकोंकी पढ़ाई करनेका, शास्त्रोंकी बातें सीखनेका उद्देश्य न हो, प्रत्युत केवल तत्त्वको समझनेका उद्देश्य हो तो हम श्रुतिविप्रतिपत्तिसे तर गये! तात्पर्य है कि हमें न तो मोहकी मुख्यता रखनी है और न शास्त्रीय मतभेदकी मुख्यता रखनी है। किसी मत, सम्प्रदायका भी कोई आग्रह नहीं रखना है*। इतना हो जाय तो हम योगके, तत्त्वज्ञानके

* नारायण अरु नगरके, रज्जब राह अनेक।
भावे आवो किधर से, आगे अस्थल एक॥
पहुँचे पहुँचे एक मत, अनपहुँचे मत और।
संतदास घड़ी अरठ की, ढुरे एक ही ठौर॥

अधिकारी हो गये! इससे अधिक किसी अधिकार-विशेषकी जरूरत नहीं है। अब इस बातपर विचार करना है कि तत्त्वज्ञान क्या है?

तत्त्वज्ञान सबसे सरल है, सबसे सुगम है और सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। तात्पर्य है कि इसको करनेमें, समझनेमें और पानेमें कोई कठिनता है ही नहीं। इसमें करना, समझना और पाना लागू होता ही नहीं। कारण कि यह नित्यप्राप्त है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। तत्त्वज्ञान जितना प्रत्यक्ष है, उतना प्रत्यक्ष यह संसार कभी नहीं है। तात्पर्य है कि हमारे अनुभवमें तत्त्वज्ञान जितना स्पष्ट आता है, उतना स्पष्ट संसार नहीं आता। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। जीव अनेक योनियोंमें जाता है। वह कभी मनुष्य बनता है, कभी पशु-पक्षी बनता है, कभी देवता बनता है, कभी राक्षस बनता है, कभी असुर बनता है, कभी भूत-प्रेत-पिशाच बनता है तो शरीर वही नहीं रहता, पर जीव स्वयं सत्तारूपसे वही रहता है। स्वभाव वही नहीं रहा, आदत वही नहीं रही, भाषा वही नहीं रही, व्यवहार वही नहीं रहा, लोक (स्थान) वही नहीं रहा, समय वही नहीं रहा; सब कुछ बदल गया, पर स्वयंकी सत्ता नहीं बदली। अगर सत्ता वही नहीं रहेगी तो तरह-तरहके नाम तथा रूप कौन धारण करेगा? इसलिये गीतामें आया है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते। (८। १९)

'वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न हो-होकर लीन होता है।'

जो उत्पन्न हो-होकर लीन होता है, वह शरीर है और जो

जब लगि काची खीचड़ी, तब लगि खदबद होय।
संतदास सीज्याँ पछे, खदबद करै न कोय॥

वही रहता है, वह जीवका असली स्वरूप अर्थात् चिन्मय सत्ता (होनापन) है। यह 'आत्मज्ञान' का वर्णन हुआ। अब 'परमात्मज्ञान' का वर्णन किया जाता है। सृष्टिमात्रमें 'है' के समान कोई सार चीज है ही नहीं। लोक-परलोक, चौदह भुवन, सात द्वीप, नौ खण्ड आदि जो कुछ है, उसमें सत्ता ('है') एक ही है। यह सब संसार प्रतिक्षण बदलता है, इतनी तेजीसे बदलता है कि इसको दो बार नहीं देख सकते। जैसे, नया मकान कई वर्षोंके बाद पुराना हो जाता है तो वह प्रतिक्षण बदलता है, तभी पुराना होता है। इस प्रतिक्षण बदलनेको ही भूत-भविष्य-वर्तमान, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, सत्य-त्रेता-द्वापर-कलियुग आदि नामोंसे कहते हैं। प्रतिक्षण बदलनेपर भी यह हमें 'है'-रूपसे इसलिये दीखता है कि हमने इस बदलनेवालेके ऊपर 'है' (परमात्मतत्त्व) का आरोप कर लिया कि 'यह है'। वास्तवमें यह है नहीं, प्रत्युत 'है' में ही यह सब है। यह तो निरन्तर बदलता है, पर 'है' ज्यों-का-त्यों रहता है। 'है' जितना प्रत्यक्ष है, उतना यह संसार प्रत्यक्ष नहीं है। जो निरन्तर बदलता है, वह प्रत्यक्ष कहाँ है? 'है' इतना प्रत्यक्ष है कि यह कभी बदला नहीं, कभी बदलेगा नहीं, कभी बदल सकता नहीं, बदलनेकी कभी सम्भावना ही नहीं। इसलिये गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (२। १६)

'असत्का भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है।'

तात्पर्य है कि जो निरन्तर बदलता है, उसका भाव कभी नहीं हो सकता और जो कभी नहीं बदलता, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। 'नहीं' कभी 'है' नहीं हो सकता और 'है' कभी

'नहीं' नहीं हो सकता। असत् कभी विद्यमान नहीं है और 'है' सदा विद्यमान है। जिसका अभाव है,उसीका त्याग करना है और जिसका भाव है, उसीको प्राप्त करना है—इसके सिवाय और क्या बात हो सकती है! 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

जो सत्ता ('है') है, वह 'सत्' है, उसका जो ज्ञान है, वह 'चित्' (चेतन) है तथा उसमें जो दुःख, सन्ताप, विक्षेपका अत्यन्त अभाव है, वह 'आनन्द' है। सत्‌के साथ ज्ञान और ज्ञानके साथ आनन्द स्वतः भरा हुआ है। ज्ञानके बिना सत् जड़ है और सत्‌के बिना ज्ञान शून्य है। किसी भी बातका ज्ञान होते ही एक प्रसन्नता होती है—यह ज्ञानके साथ आनन्द है। परमात्मतत्त्व सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। वह सच्चिदानन्द परमात्मतत्त्व 'है'-रूपसे सब जगह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है।

साधकको 'सत्' और 'चित्' (चेतन) की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। सत्‌का स्वरूप है—सत्तामात्र और चित्‌का स्वरूप है—ज्ञानमात्र। उत्पत्तिका आधार होनेसे यह 'सत्ता' (सत्) है तथा प्रतीतिका प्रकाशक होनेसे यह 'ज्ञान' (चित्) है। यह सत्ता और ज्ञान ही 'चिन्मय सत्ता' है, जो कि हमारा स्वरूप है। जैसे, सुषुप्तिमें अनुभव होता है कि 'मैं बड़े सुखसे सोया अर्थात् मैं तो था ही'—यह 'सत्ता' है और 'मुझे कुछ भी पता नहीं था'— यह 'ज्ञान' है। तात्पर्य है कि सुषुप्तिमें अपनी सत्ता तथा अहम्‌के अभावका (मुझे कुछ भी पता नहीं था—इसका) ज्ञान रहता है। जैसे, आँखसे सब वस्तुएँ दीखती हैं, पर आँखसे आँख नहीं दीखती; अतः यह कह सकते हैं कि जिससे सब वस्तुएँ दीखती हैं, वही आँख है। ऐसे ही जिसको अहम्‌के भाव और

अभावका ज्ञान होता है, वही चिन्मय सत्ता (स्वरूप) है। उस चिन्मय सत्ताके अभावका ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। चित् ही बुद्धिमें ज्ञान-रूपसे आता है और भौतिक जगत्‌में (नेत्रोंके सामने) प्रकाश-रूपसे आता है। बुद्धिमें जानना और न जानना रहता है तथा नेत्रोंके सामने प्रकाश और अँधेरा रहता है। जैसे सम्पूर्ण संसारकी स्थिति एक सत्ताके अन्तर्गत है, ऐसे ही सम्पूर्ण पढ़ना, सुनना, सीखना, समझना आदि एक ज्ञानके अन्तर्गत है। ये सत् और चित् सबके प्रत्यक्ष हैं, किसीसे भी छिपे हुए नहीं हैं। इनके सिवाय जो असत् है, वह ठहरता नहीं है और जो जड़ है, वह टिकता नहीं है। सत् और चित्‌का अभाव कभी विद्यमान नहीं है एवं असत् और जड़का भाव कभी विद्यमान नहीं है। सत् और चित् सबसे पहले भी हैं, सबसे बादमें भी हैं और अभी भी ज्यों-के-त्यों हैं।

जिनकी मान्यतामें कालकी सत्ता है, उनके लिये यह कहा जाता है कि परमात्मतत्त्व भूतमें भी है, भविष्यमें भी है और वर्तमानमें भी है। वास्तवमें न तो भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान ही है, प्रत्युत एक परमात्मतत्त्व ही है। वह परमात्मतत्त्व कालका भी महाकाल है, कालका भी भक्षण करनेवाला है—

(१) ब्रह्म अगनि तन बीचमें, मथकर काढ़े कोय।
उलट कालको खात है, हरिया गुरुगम होय॥
(२) नवग्रह चौसठ जोगिणी, बावन बीर प्रजंत।
काल भक्ष सबको करै, हरि शरणै डरपंत॥

(करुणासागर ६४)

काल उसीको खाता है, जो पैदा हुआ है। जो पैदा ही नहीं हुआ, उसको काल कैसे खाये? ऐसा वह परमात्मतत्त्व जीवमात्रको

नित्यप्राप्त है। उस सर्वसमर्थ परमात्मतत्त्वमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह कभी किसीसे अलग हो जाय, कभी किसीको अप्राप्त हो जाय। वह नित्य-निरन्तर सबमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, नित्यप्राप्त है। यह 'परमात्मज्ञान' है।

आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान एक ही है। कारण कि चिन्मय सत्ता एक ही है, पर जीवकी उपाधिसे अलग-अलग दीखती है। भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा सदासे मेरा ही अंश है।'

प्रकृतिके अंश 'अहम्' को पकड़नेके कारण ही यह जीव अंश कहलाता है। अगर यह अहम्‌को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ता (होनेपन) के सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार है, अधिष्ठान है, प्रकाशक है, आश्रय है, जीवनदाता है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत है। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। गीतामें आया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(१३। ३२)

'जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।'

तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता केवल शरीर आदिमें स्थित नहीं है, प्रत्युत आकाशकी तरह सम्पूर्ण शरीरोंके, सृष्टिमात्रके

बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि सर्वदेशीय सत्ता एक ही है। साधकका लक्ष्य निरन्तर उस सत्ताकी ओर ही रहना चाहिये।

प्रश्न—सत्तामें एकदेशीयता दीखनेमें क्या कारण है?

उत्तर—सत्ताको बुद्धिका विषय बनानेसे अथवा मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार रहनेसे ही सत्तामें एकदेशीयता दीखती है। वास्तविक सत्ता मन-बुद्धि-अहम्‌के अधीन नहीं है, प्रत्युत उनको प्रकाशित करनेवाला तथा उनसे अतीत है। सत्तामात्रमें न मन है, न बुद्धि है, न अहम् है।

प्रश्न—यह एकदेशीयता कैसे मिटे?

उत्तर—एकदेशीयता मिट जाय—यह आग्रह भी छोड़कर सत्तामात्रमें स्थित (चुप) हो जाय। चुप होनेसे मन-बुद्धि-अहम्‌के संस्कार स्वतः मिट जायँगे। जैसे समुद्रमें बर्फके ढेले तैर रहे हों तो उनको गलानेके लिये कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं है, वे तो स्वतः गल जायँगे। ऐसे ही सत्तामात्रमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम् आदिकी प्रतीति हो रही है तो उनको न हटाना है, न रखना है। चुप अर्थात् निर्विकल्प होनेसे वे स्वतः गल जायँगे*।

---

* एक निर्विकल्प अवस्था होती है और एक निर्विकल्प बोध होता है। निर्विकल्प अवस्था करण-सापेक्ष होती है और निर्विकल्प बोध करण-निरपेक्ष होता है। तात्पर्य है कि निर्विकल्प अवस्था मन-बुद्धिकी होती है और निर्विकल्प बोध मन-बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वयंसे होता है। निर्विकल्प अवस्थामें निर्विकल्पता अखण्डरूपसे नहीं रहती, प्रत्युत उससे व्युत्थान होता है। परंतु निर्विकल्प बोधमें निर्विकल्पता अखण्डरूपसे रहती है और उससे कभी व्युत्थान नहीं होता। निर्विकल्प अवस्थासे भी असंग होनेपर स्वतःसिद्ध निर्विकल्प बोधका अनुभव हो जाता है।

सत्तामात्रको देखें तो वह कभी बद्ध हुआ ही नहीं, प्रत्युत सदा ही मुक्त है। अगर वह बद्ध होगा तो कभी मुक्त नहीं हो सकता और मुक्त है तो कभी बद्ध नहीं हो सकता। बन्धनका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और मुक्तिका अभाव विद्यमान नहीं है। बन्धनकी केवल मान्यता है। वह मान्यता छोड़ दें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

मानवमात्र तत्त्वज्ञानका अधिकारी है; क्योंकि सत्तामें सब मनुष्य एक हो जाते हैं। क्रूर-से-क्रूर भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस आदिमें भी वही सत्ता है और सौम्य-से-सौम्य सन्त, महात्मा, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी आदिमें भी वही सत्ता है। वह सत्ता परमात्मसत्तासे सदा अभिन्न है। केवल उस सत्ताके सम्मुख होना है। इसमें क्या अभ्यास है? क्या परिश्रम है? क्या कठिनता है? क्या दुर्लभता है? क्या परोक्षता है? सत्तामें न मल है, न विक्षेप है, न आवरण है। अभ्यास तो दृढ़ और अदृढ़ दो तरहका होता है, पर सत्ता दो तरहकी होती ही नहीं। सत्ता और उसका ज्ञान होता है तो सदा दृढ़ ही होता है, अदृढ़ होता ही नहीं।

अनुकूल-से-अनुकूल परिस्थितिमें भी वही सत्ता है, प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें भी वही सत्ता है। जीवनमें भी वही सत्ता है, मौतमें भी वही सत्ता है। अमृतमें भी वही सत्ता है, जहरमें भी वही सत्ता है। स्वर्गमें भी वही सत्ता है, नरकमें भी वही सत्ता है। रोगमें भी वही सत्ता है, नीरोगमें भी वही सत्ता है। विद्यामें भी वही सत्ता है, अविद्यामें भी वही सत्ता है। ज्ञानीमें भी वही सत्ता है, मूढ़में भी वही सत्ता

है। मित्रमें भी वही सत्ता है, शत्रुमें भी वही सत्ता है। धनीमें भी वही सत्ता है, निर्धनमें भी वही सत्ता है। बलवान्में भी वही सत्ता है, निर्बलमें भी वही सत्ता है। चिन्मय सत्ता तो वही (एक ही) है। अगर हम उस सत्तामें ही रहें तो सत्ताके सिवाय ये अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि कुछ है ही नहीं। जैसे, छोटा बालक माँकी गोदीमें ही रहता है, गोदीसे नीचे उतरते ही रोने लग जाता है, ऐसे ही हम उस सत्तामें ही रहें, सत्तासे नीचे उतरें ही नहीं, कभी उतर जायँ तो व्याकुल हो जायँ! चाहे अनुकूलता आ जाय, चाहे प्रतिकूलता आ जाय; चाहे जन्म हो जाय, चाहे मृत्यु हो जाय; चाहे नीरोगता आ जाय, चाहे बीमारी आ जाय; चाहे संयोग हो जाय, चाहे वियोग हो जाय; चाहे सम्पत्ति आ जाय, चाहे विपत्ति आ जाय; चाहे मुनाफा हो जाय, चाहे घाटा लग जाय; चाहे करोड़पति हो जाय, चाहे कँगला हो जाय; चिन्मय सत्तामें क्या फर्क पड़ता है? सत्तामें कुछ होता है ही नहीं। उसमें न कुछ हुआ है, न कुछ हो रहा है, न कुछ होगा और न कुछ हो सकता ही है। कुछ भी होगा तो वह टिकेगा नहीं और सत्ता मिटेगी नहीं। उस सत्तामें हमारी स्थिति स्वतः है।

'है' में हमारी स्थिति स्वतः है और 'नहीं' में हमने स्थिति मानी है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ; मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ; मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ; मैं विद्वान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ—यह सब मानी हुई स्थिति है। वास्तवमें हमारी स्थिति निरन्तर 'है' में है। उस 'है' के सिवाय किसीकी भी सत्ता नहीं है। उस 'है' के समान विद्यमान कोई हुआ नहीं,

है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। वह सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। वह सभीके प्रत्यक्ष है, किसीसे बिलकुल भी छिपा हुआ नहीं है। यही ब्रह्मज्ञान है, तत्त्वज्ञान है। जो 'है' (चिन्मय सत्ता) में स्थित है, वही तत्त्वज्ञानी है, जीवन्मुक्त है, महात्मा है। गीतामें आया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है ('नहीं' को न देखकर केवल 'है' को देखता है), वही वास्तवमें सही देखता है।'

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

(१३। २८)

'क्योंकि सब जगह समरूपसे स्थित ईश्वरको समरूपसे देखनेवाला मनुष्य अपने-आपसे अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिये वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है।'
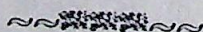
३. सबसे सुगम परमात्मप्राप्ति

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके समान सुगम और जल्दी सिद्ध होनेवाला कार्य कोई है नहीं, था नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं! परिश्रम और देरी तो उस वस्तुकी प्राप्तिमें लगती है, जो है नहीं, प्रत्युत बनायी जाय। जो स्वतः-स्वाभाविक विद्यमान है, उसकी प्राप्तिमें परिश्रम और देरी कैसी? जैसे, गङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेमें बहुत जोर पड़ा और अनेक पीढ़ियाँ खतम हो गयीं, पर अब 'गङ्गाजी हैं'—ऐसा जाननेमें क्या जोर पड़ता है? क्या देरी लगती है? परंतु स्वयंकी भूख, लगन न हो तो यह सुगमता किस कामकी? अगर स्वयंकी लगन हो तो सब-के-सब मनुष्य सुगमतापूर्वक और तत्काल जीवन्मुक्त हो सकते हैं!

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, जीवन्मुक्ति सबसे सुगम कैसे है—इस विषयको समझनेकी चेष्टा करें। प्रत्येक मनुष्यका यह अनुभव है कि 'मैं हूँ'। बचपनसे लेकर आजतक शरीर सर्वथा बदल गया, पर मैं वही हूँ और आगे वृद्धावस्थामें शरीर बदलनेपर भी मैं वही रहूँगा। शरीर बदलेगा, पर मैं नहीं बदलूँगा। तात्पर्य है कि शरीरमें परिवर्तन होनेपर भी सत्तामें परिवर्तन नहीं होता। हम शरीरको छोड़कर दूसरी योनियोंमें भी जायँगे, तो भी सत्ता नहीं बदलेगी अर्थात् हम वही रहेंगे। अगर हम देवता बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे, मनुष्य बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे, पशु-पक्षी बन जायँ

तो भी हम वही रहेंगे, वृक्ष-लता बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे, भूत-प्रेत-पिशाच बन जायँ तो भी हम वही रहेंगे। स्थावर-जंगम किसी भी योनिमें जायँ, स्वयंकी सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें हम वही रहते हैं। सुषुप्तिसे उठनेपर हम कहते हैं कि मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था। परंतु 'मेरेको कुछ पता नहीं था'—इसका पता तो था ही। अतः सुषुप्तिमें भी हमारी सत्ता सिद्ध होती है। सुषुप्तिकी तरह ही प्रलय-महाप्रलय होते हैं। प्रलय-महाप्रलयमें भी सब जीवोंकी सत्ता रहती है। जैसे सुषुप्तिसे जाग्रत्में आते हैं, ऐसे ही जीव प्रलय-महाप्रलयसे सर्ग-महासर्गमें आते हैं। तात्पर्य है कि महासर्ग और महाप्रलयमें, सर्ग और प्रलयमें, जन्म और मृत्युमें स्वयंकी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। वह चिन्मय सत्ता (होनापन) ही हमारा स्वरूप है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् हमारा स्वरूप नहीं है; क्योंकि ये सब दृश्य हैं।

शरीर बदलता है, मन बदलता है, बुद्धि बदलती है, भाव बदलते हैं, सिद्धान्त बदलते हैं, मान्यता बदलती है, देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तु बदलती है, व्यक्ति बदलता है, अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है, सब कुछ बदलता है, पर सत्ता नहीं बदलती। सबका संयोग और वियोग होता है, पर सत्ताका संयोग और वियोग नहीं होता। जो बदलता है और जिसका संयोग-वियोग होता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। जो कभी नहीं बदलता और जिसका कभी

वियोग नहीं होता, वही हमारा स्वरूप है। मनुष्यका ढाँचा (बनावट) और तरहका है तथा कुत्तेका ढाँचा और तरहका है, पर सत्ता दोनोंमें एक ही है। वह सत्ता न तो स्त्री है, न पुरुष है, न देवता है, न पशु-पक्षी है, न भूत-प्रेत है। ऐसे ही सत्ता न ज्ञानी है, न अज्ञानी है; न मूर्ख है, न विद्वान् है; न निर्बल है, न बलवान् है; न साधु है, न गृहस्थ है; न ब्राह्मण है, न शूद्र है; न हलकी है, न भारी है; न छोटी है, न बड़ी है; न सूक्ष्म है, न स्थूल है। चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो, चाहे देवता हो, चाहे पशु हो, चाहे भूत-प्रेत हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी हो, चाहे कसाई हो, चाहे सन्त-महात्मा हो, चाहे तत्त्वज्ञानी हो, चाहे भगवत्प्रेमी हो, सत्ता सबमें एक ही है। वह चिन्मय सत्ता न बदलती है, न मिटती है, न आती है, न जाती है। वह सत्ता हमारा स्वरूप है; बस, इतनी ही बात है। इससे अतिरिक्त कोई बात नहीं है। शास्त्रमें, वेदमें, वेदान्तमें इससे बढ़िया बात क्या आती है? ब्रह्मकी बात कहें तो वह भी सत्ता ही है। हमारेसे गलती यही होती है कि उस सत्ताके साथ कुछ-न-कुछ मिला लेते हैं। अगर कुछ न मिलायें तो जीवन्मुक्त ही हैं! कुछ भी मिलायेंगे तो बँध जायँगे। मैं स्त्री हूँ तो बँध गये, मैं पुरुष हूँ तो बँध गये, मैं बालक हूँ तो बँध गये, मैं जवान हूँ तो बँध गये, मैं बूढ़ा हूँ तो बँध गये, मैं रोगी हूँ तो बँध गये, मैं नीरोग हूँ तो बँध गये, मैं समझदार हूँ तो बँध गये, मैं बेसमझ हूँ तो बँध गये! चिन्मय सत्ताके साथ कुछ भी मिलाना बन्धन है और कुछ भी न मिलाना मुक्ति है। चिन्मय सत्ताके सिवाय हमारा और कोई स्वरूप है ही

नहीं। यही तत्त्वज्ञान है। इसीको ब्रह्मज्ञान कहते हैं। कोई भले ही षट्शास्त्र पढ़ ले, अठारह पुराण पढ़ ले, अठारह उपपुराण पढ़ ले, चार वेद पढ़ ले, हजारों वर्षोंतक पढ़ाई कर ले, पर इससे बढ़कर कोई बात मिलेगी नहीं। इससे बढ़कर कोई बात है ही नहीं, मिले कहाँसे? इसलिये सन्तोंने कहा है—

बावर बेद बिदुष बावरियो, पोथी पुस्तक फंदा।
भोला नर मांही उलझाना, उलट न देखे अंधा॥

प्रश्न—जीवात्माकी सत्ता और परमात्माकी सत्ता—दोनों एक हैं या अलग-अलग?

उत्तर—सत्ता एक ही है; परंतु सत्तामें अहम् ('मैं') को मिलानेसे सत्तामें भेद दीखने लग गया। कारण कि अहम्से परिच्छिन्नता पैदा होती है और परिच्छिन्नतासे सम्पूर्ण भेद पैदा होते हैं। वास्तविक सत्ता अहंरहित होनेसे अपरिच्छिन्न है। उस सत्तामें सबकी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है; परंतु अहम्की स्वीकृतिके कारण उसका अनुभव नहीं हो रहा है।

अहम्को जीवित न रखना साधकका खास काम है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह भाव अहम्को जीवित रखता है। कारण कि 'मैं' ब्रह्म नहीं है और ब्रह्ममें 'मैं' नहीं है। 'मैं' में 'हूँ' को मिलाना और 'हूँ' को 'मैं' में मिलाना 'चिज्जड़ग्रन्थि' है। यह 'मैं' अर्थात् अहम् केवल माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये इसको जहाँ भी लगायें, वहीं प्रवेश कर जाता है। जड़में प्रवेश करके कहता है कि 'मैं शरीर हूँ', 'मैं धनवान् हूँ' आदि तथा चेतनमें प्रवेश करके कहता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ' आदि।

परंतु दोनोंमें अहम् वही-का-वही है।

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनात्मा (असत्, जड़, उत्पत्ति-विनाश-शील) का तादात्म्य है। कारण कि अनात्माके तादात्म्यके बिना, अनात्माकी सहायताके बिना केवल आत्मतत्त्वसे परमात्माका चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि हो ही नहीं सकते। चिन्तन, ध्यान आदि करेंगे तो अनात्माकी पराधीनता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, अनात्माका आदर करना ही पड़ेगा। जिसकी सहायता लेंगे, उसका त्याग भी कैसे होगा और अनात्माका त्याग किये बिना आत्मतत्त्वका अनुभव भी कैसे होगा? आत्मतत्त्वका अनुभव तो अनात्मासे असंग होनेपर ही होगा।

जिसकी प्रतीति होती है, वह दृश्य (शरीर) भी हमारा स्वरूप नहीं है और जिसका भान होता है, वह अहम् भी हमारा स्वरूप नहीं है। अहम्‌को साथमें रखते हुए साधन करेंगे तो नयी अवस्थाकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर अवस्थातीत तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अवस्थातीत तत्त्वकी प्राप्ति अहम्‌का अभाव होनेपर ही होती है। अहम्‌के रहते हुए यह अभिमान तो हो सकता है कि 'मेरेको बोध हो गया, मैं ज्ञानी हो गया, मैं जीवन्मुक्त हो गया', पर वास्तविक बोध, तत्त्वज्ञान, जीवन्मुक्ति अहम्‌का अभाव होनेपर ही होती है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रका ज्ञान सत्ताको ही होता है, 'मेरेको' नहीं होता। सत्ता तो ज्ञानस्वरूप ही है और उस ज्ञानका ज्ञाता कोई नहीं है; क्योंकि जब ज्ञेयकी सत्ता ही नहीं, तो फिर ज्ञाता संज्ञा कैसे?

जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें अहम्‌का भाव दीखता है और

सुषुप्ति-अवस्थामें अहम्का अभाव दीखता है। अहम्का भाव और अभाव—दोनोंको चेतन-तत्त्व प्रकाशित करता है। जो भाव और अभावको प्रकाशित करता है, वह 'सत्' है तथा जिसका भाव और अभाव होता है, वह 'असत्' है। जैसे नेत्र प्रकाश और अंधकार—दोनोंको प्रकाशित करता है, ऐसे ही विवेक अहम्के भाव और अभाव—दोनोंको प्रकाशित करता है। अहम्का भाव मिटकर अभाव रह जाय, जड़ता मिटकर चेतन रह जाय तो विवेक बोधमें परिणत हो जाता है।

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति भी सुगम है और अहम्की निवृत्ति भी सुगम है। कारण कि परमात्मतत्त्वकी नित्यप्राप्ति है और अहम्की नित्यनिवृत्ति है। अहम्को मिटानेका प्रयत्न करनेसे अहम्का विवेचन तो होता है, पर अहम् मिटता नहीं। परंतु सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मसत्ताका अनुभव होनेसे अहम् मिट जाता है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

'मया ततमिदं सर्वम्' (९। ४)

'यह सब संसार मेरेसे व्याप्त है।'

तात्पर्य है कि संसारमें सत्ता ('है') रूपसे एक सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है *। जिसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। अज्ञानके कारण संसारमें जो सत्ता प्रतीत हो रही है, वह भी परमात्मतत्त्वकी सत्ताके कारण ही है—

* भगवान्‌ने गीतामें जीवात्माके लिये भी 'येन सर्वमिदं ततम्' (२। १७) कहा है और परमात्माके लिये भी 'येन सर्वमिदं ततम्' (८। २२; १८। ४६) कहा है। तात्पर्य है कि जीवात्मा और परमात्मा—दोनोंकी सर्वत्र परिपूर्ण सत्ता एक ही है।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १। ११७। ४)

भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।'

तात्पर्य है कि चिन्मय सत्तारूपसे केवल परमात्मतत्त्व ही ग्रहणमें आ रहा है। कारण कि ग्रहण सत्ताका ही होता है। जिसकी सत्ता ही नहीं, उसका ग्रहण कैसे होगा?

जब सबमें एक अविभक्त सत्ता ('है') ही परिपूर्ण है, तो फिर उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चार विभाग कैसे हो सकते हैं? अहंता और ममता कैसे हो सकती है? राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटानेका अभ्यास भी कैसे हो सकता है?

भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है।'

तात्पर्य है कि असत्की नित्यनिवृत्ति है और सत्की

नित्यप्राप्ति है। नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें क्या कठिनता और क्या सुगमता? क्या करना और क्या न करना? क्या पाना और क्या खोना?

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

सर्वत्र परिपूर्ण चिन्मय सत्तामें न देश है, न काल है, न वस्तु है, न व्यक्ति है, न अवस्था है, न परिस्थिति है, न घटना है। उस सत्तामें न आना है, न जाना है; न जीना है, न मरना है; न लेना है, न देना है; न करना है, न नहीं करना है; न समाधि है, न व्युत्थान है; न बन्धन है, न मोक्ष है; न भोगेच्छा है, न मुमुक्षुता है; न बोलना है, न सुनना है; न पढ़ना है, न लिखना है; न प्रश्न है, न उत्तर है। उसमें न कोई लाभ है, न हानि है; न कोई बड़ा है, न छोटा है; न कुछ बढ़िया है, न घटिया है—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।

(श्रीमद्भा० ११। २८। ४)

'जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तो फिर उसमें क्या अच्छा और क्या बुरा?'

अच्छा-बुरा, ठीक-बेठीक, विधि-निषेध—यह सब मनुष्यलोककी मर्यादा है। मर्यादापर ठीक चलना मनुष्यका कर्तव्य है। मर्यादापर ठीक चलनेसे विवेकका आदर होता है और विवेकके आदरसे वह विवेक बोधमें परिणत हो जाता है। बोध होनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता अर्थात् मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो

जाता है।

आजतक देव, राक्षस, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि अनेक योनियोंमें जो भी कर्म किये हैं और उनका फल भोगा है, उनमेंसे कोई भी कर्म और फलभोग सत्तातक नहीं पहुँचा! आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी काले-काले बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी तरह-तरहके शब्द होते हैं, गर्जना होती है; परंतु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण सत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूचाल आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परंतु सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। इसलिये गीतामें आया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

(१३। २९)

'जो सम्पूर्ण क्रियाओंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही की जाती हुई देखता है और अपने-आपको अकर्ता देखता अर्थात् अनुभव करता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

इस प्रकार सत्तामात्रमें स्थितिका अनुभव करके चुप हो जाना चाहिये। चुप होनेके लिये साधक तीन बातोंपर विचार करे—

(१) 'मैं' और 'मेरा' कुछ नहीं है; क्योंकि स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है, फिर मैं और मेरा कौन हुआ?

(२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि सत्तामें किञ्चिन्मात्र भी कोई कमी नहीं है, फिर वस्तुकी इच्छा कैसे की जाय?

(३) अपने लिये कुछ नहीं करना है; क्योंकि जिन करणोंसे कर्म होते हैं, वे करण भी प्रकृतिमें हैं और जो कर्म करनेवाला है, वह अहंकार (कर्तापन) भी प्रकृतिमें है। अतः स्वरूपमें करनेकी योग्यता भी नहीं है और करनेका दायित्व भी नहीं है।

इस प्रकार विचार करके चुप हो जाय, सब ओरसे विमुख होकर सत्तामात्रमें स्थिर हो जाय। यह 'चुप साधन' है। न तो स्थूलशरीरकी क्रिया हो, न सूक्ष्मशरीरका चिन्तन हो और न कारणशरीरकी सुषुप्ति हो, तब चुप साधन होता है। इसमें

कोई क्रिया नहीं है, प्रत्युत जिससे क्रिया प्रकाशित होती है, उस अक्रिय तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थिति है। इसमें वृत्तिको लगाना या हटाना भी नहीं है, प्रत्युत जिस ज्ञानके अन्तर्गत वृत्ति दीखती है, उस ज्ञानमें स्वतःसिद्ध स्थिति है। यह चुप साधन समाधिसे भी ऊँची चीज है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहम्‌से सम्बन्धविच्छेद है। इसलिये समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर चुप साधनमें ये दोष नहीं रहते।

चिन्मय सत्तामात्र अक्रिय है और उसमें अनन्त सामर्थ्य है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग आदि जितने भी योग हैं, वे सब इस अक्रिय तत्त्वसे ही प्रकट होते हैं। यह अक्रिय तत्त्व सम्पूर्ण साधनोंकी भूमि है अर्थात् सभी साधन इसीसे प्रकट होते हैं और इसीमें लीन होते हैं। चुप साधनसे अक्रिय तत्त्व (सत्तामात्र) में अपनी स्वतःस्वाभाविक तथा सहज स्थितिका अनुभव हो जाता है अर्थात् अहम् मिट जाता है और सम, शान्त, सद्‌घन, चिद्‌घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है—

ढूँढ़ा सब जहाँ में, पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं॥

संतोंने इस अवस्थातीत सहजावस्थाका वर्णन इस प्रकार किया है—

अपन पौ आपहि में पायो।
शब्द-हि-शब्द भयो उजियारा, सतगुरु भेद बतायो॥
जैसे सुन्दरी सुत लै सूती, स्वप्ने गयो हिराई।

जाग परी पलंग पर पायो, न कछु गयो न आई॥
जैसे कुँवरी कंठ मणि हीरा, आभूषण बिसरायो।
संग सखी मिलि भेद बतायो, जीव को भरम मिटायो॥
जैसे मृग नाभी कस्तूरी, ढूँढत बन बन धायो।
नासा स्वाद भयो जब वाके, उलटि निरन्तर आयो॥
कहा कहूँ वा सुख की महिमा, ज्यों गूंगे गुड़ खायो।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, ज्यों-का-त्यों ठहरायो॥

तात्पर्य है कि जो साधक अपनेमें 'मैं हूँ'—इस प्रकार परिच्छिन्न (एकदेशीय) सत्ताका अनुभव करता था, वही 'मैं' (अहम्) के मिटनेपर अपरिच्छिन्न सत्ताका अनुभव कर लेता है अर्थात् 'हूँ' में ही 'है' को पा लेता है। फिर 'हूँ' नहीं रहता, प्रत्युत एकमात्र 'है' ही रहता है।

राग-द्वेष, हर्ष-शोक, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, जड़ता, परिच्छिन्नता आदि सब विकार अहम्में रहते हैं। उस अहम्को साधकने अपनेमें स्वीकार किया है, इसलिये अहम्को मिटानेके लिये अपनेमें परमात्मतत्त्वको स्वीकार करना अर्थात् 'हूँ' में 'है' को स्वीकार करना आवश्यक है।

एक मार्मिक बात है कि 'हूँ' में 'है' को मिलानेकी अपेक्षा 'हूँ' को 'है' में मिलाना बढ़िया है। 'मैं' भगवान्का ही हूँ, अन्य किसीका नहीं हूँ—इस प्रकार अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर देना, भगवान्की शरणमें चले जाना ही 'हूँ' को 'है' में मिलाना है। 'हूँ' में 'है' को मिलानेसे सूक्ष्म परिच्छिन्नता रह सकती है; क्योंकि 'हूँ' में अनादिकालसे परिच्छिन्नताके संस्कार पड़े हुए हैं, जो कि 'है' में नहीं हैं। इसलिये 'हूँ'

को 'है' के अर्पित करनेसे परिच्छिन्नताका, अहम्‌का सुगमतापूर्वक सर्वथा अभाव हो जाता है।

चाहे 'हूँ' को 'है' में मिलायें, चाहे 'है' में 'हूँ' को मिलायें, दोनोंका परिणाम एक ही होगा अर्थात् 'हूँ' नहीं रहेगा, 'है' रह जायगा। जैसे—कर्मयोगी कर्ममें अकर्मको तथा अकर्ममें कर्मको देखता है—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**' (गीता ४। १८); अतः परिणाममें कर्म नहीं रहता, अकर्म रह जाता है। ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है—'**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि**' (गीता ६। २९); अतः परिणाममें प्राणी नहीं रहते, आत्मा रह जाती है। भक्तियोगी सबमें भगवान्‌को और भगवान्‌में सबको देखता है—'**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**' (गीता ६। ३०); अतः परिणाममें सब नहीं रहते, भगवान् रह जाते हैं। अकर्म, आत्मा और भगवान्—तीनों तत्त्वसे एक ही हैं।

४. असत्का त्याग तथा सत्की खोज

जिसको हम असत् जानते हैं, उसका त्याग करनेसे स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जाता है। वास्तवमें असत्की सत्ता विद्यमान है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। असत्का अत्यन्त अभाव है। मैं, तू, यह और वह—इन चारोंकी सत्ता ही नहीं है। जो कुछ भी देखने, सुनने, मानने, चिन्तन करनेमें आता है, वह वास्तवमें है ही नहीं। इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और अहंकार—ये तीनों ही नहीं हैं।

हम जानते हैं कि संसार निरन्तर बदलता है। यह जैसा पहले था, वैसा अब नहीं है और जैसा अब है, वैसा आगे नहीं रहेगा। परंतु ऐसा जानते हुए भी हम संसारकी सत्ता मानते हैं—यह जाने हुए असत्की सत्ताको स्वीकार करना है। जाने हुए असत्की सत्ताको स्वीकार करना तथा उसको महत्त्व देना ही बन्धनका मूल कारण है।

मनुष्यमात्रमें असत्का त्याग करनेकी सामर्थ्य भी है और स्वतन्त्रता भी! असत्का त्याग करनेमें कोई भी असमर्थ और पराधीन नहीं है। अब विचार इस बातपर करना है कि असत्को असत्-रूपसे जानते हुए भी उसका आकर्षण क्यों हो रहा है? उसका त्याग क्यों नहीं हो रहा है?

जब हम अपनेमें असत्की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं और सत्ता स्वीकार करके उसको महत्ता दे देते हैं, तब असत्का आकर्षण होता है। संयोगजन्य सुखकी इच्छा करना ही अपनेमें

असत्‌की सत्ता और महत्ताको स्वीकार करना है। हम विचारके समय तो संसारको असत् मानते हैं, पर अन्य समय असत्‌के संगका सुख भोगते हैं, इसीलिये (सुखासक्तिके कारण) असत्‌का त्याग करनेमें कठिनता मालूम दे रही है।

संयोगजन्य सुखके पहले उसके अभावका दुःख है, अन्तमें उसके वियोगका दुःख है तथा बीचमें भी उसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है—यह ज्ञान होनेपर सुखकी इच्छा मिट जाती है। कारण कि अभाव ही शेष रहता है और अभावमें सुख हो नहीं सकता। गीतामें आया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५। २२)

'हे कुन्तीनन्दन! जो इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे पैदा होनेवाले भोग हैं, वे आदि-अन्तवाले और दुःखके ही कारण हैं। अतः विवेकी मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।'

विवेकका अनादर करनेके कारण मनुष्य आरम्भको देखता है, परिणामको नहीं। सुखभोगके परिणाममें दुःख आयेगा ही—यह नियम है। कारण कि सुखभोगके परिणाममें अपनी शक्तिका ह्रास और भोग्य वस्तुका नाश होता ही है—यह नियम है। यदि मनुष्य सुखभोगके परिणामपर विचार करे, उसके परिणामको महत्त्व दे तो सुखभोगकी रुचि मिट जायगी; क्योंकि दुःख और अभावको कोई भी नहीं चाहता। दुःख और अभाव स्वाभाविक अरुचिकर होता है। इसलिये गीता कहती है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(१८। ३८)

'जो सुख इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है, वह सुख राजस कहा गया है*।'

तात्पर्य है कि आरम्भमें भोग्य पदार्थ बड़े अच्छे लगते हैं और उनमें बड़ा सुख मालूम देता है। परंतु उनको भोगते-भोगते जब परिणाममें वह सुख नीरसतामें परिणत हो जाता है और उससे सर्वथा अरुचि हो जाती है, तब वही सुख विषकी तरह मालूम देता है। वास्तवमें सुखकी रुचि बनावटी है और अरुचि स्वाभाविक है।

केवल दूसरोंको सुख देनेका स्वभाव बन जाय तो सुखासक्ति सुगमतापूर्वक मिट जाती है। कारण कि असत्‌से सुख लेनेके कारण ही अपनेमें असत्‌के त्यागकी असामर्थ्य तथा असत्‌की पराधीनता प्रतीत होती है। इसलिये साधकको यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि मेरेको असत्‌से सुख लेना ही नहीं है।

एक मार्मिक बात है कि ढीली प्रकृतिवाला अर्थात् शिथिल स्वभाववाला मनुष्य असत्‌का जल्दी त्याग नहीं कर सकता। एक विचार किया और उसको छोड़ दिया। फिर दूसरा विचार किया और उसको छोड़ दिया—इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसको छोड़ते रहनेसे आदत बिगड़ जाती है। इस बिगड़ी हुई

* रजोगुण रागरूप ही होता है—'रजो रागात्मकं विद्धि' (गीता १४। ७) और उसका फल दुःख ही होता है—'रजसस्तु फलं दुःखम्' (गीता १४। १६)।

आदतके कारण ही वह असत्के त्यागकी बातें तो सीख जाता है, पर असत्का त्याग नहीं कर पाता। अगर असत्का त्याग कर भी देता है तो स्वभावकी ढिलाईसे फिर उसको सत्ता दे देता है। स्वभावकी यह शिथिलता स्वयं साधककी बनायी हुई है। अतः साधकके लिये यह बहुत आवश्यक है कि वह अपना स्वभाव दृढ़ रहनेका बना ले। एक बार वह जो विचार कर ले, फिर उसपर वह दृढ़ रहे—**'भजन्ते मां दृढव्रताः'** (गीता ७। २८)। छोटी-सी-छोटी बातमें भी वह दृढ़ (पक्का) रहे तो उसमें असत्का त्याग करनेकी शक्ति आ जायगी।

साधकमें एक तो असत्की रुचि (भोगेच्छा) है और एक सत्की भूख (जिज्ञासा) है। यह सिद्धान्त है कि असत्की रुचि असत्में नहीं होती और सत्की भूख सत्में नहीं होती। जिसमें असत्की रुचि और सत्की भूख है, वह जीव है। रुचि 'कामना' है और भूख 'आवश्यकता' है। कामना कभी पूरी नहीं होती, प्रत्युत उसकी निवृत्ति ही होती है। परंतु आवश्यकता पूरी होनेवाली ही होती है। मनुष्यमें केवल कामना तो नहीं रह सकती, पर केवल आवश्यकता रह सकती है। केवल आवश्यकता रहते ही उसकी पूर्ति हो जाती है। जैसे जबतक लकड़ी रहती है, तबतक आग रहती है। लकड़ी समाप्त होते ही आग शान्त हो जाती है। ऐसे ही जबतक कामना (भोगेच्छा) है, तबतक आवश्यकता (जिज्ञासा) है। कामनाके कारण ही आवश्यकता है। इसलिये कामना मिटते ही आवश्यकता पूरी हो जाती है। अतः साधकको चाहिये कि वह आवश्यकतामें कामनाको मिला दे अर्थात् उसके जीवनमें कामना न रहे, प्रत्युत एक आवश्यकता ही

रहे। असत्‌की रुचि न रहे, प्रत्युत सत्‌की ही रुचि रहे और सत्‌की ही भूख रहे। सत्‌की भूख ही जिज्ञासा कहलाती है। जिज्ञासा और जिज्ञास्य तत्त्वमें कोई भेद नहीं है। परंतु जबतक जिज्ञासु रहता है अर्थात् अहम् रहता है, तबतक जिज्ञासा और जिज्ञास्य तत्त्वकी एकता स्पष्ट नहीं होती। अहम्‌के मिटनेपर जिज्ञासु नहीं रहता, प्रत्युत जिज्ञासामात्र रह जाती है। जिज्ञासामात्र रहते ही जिज्ञासा जिज्ञास्य तत्त्वसे एक हो जाती है अर्थात् आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है।

असत् नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है और सत् नित्यप्राप्त है, इसलिये उसकी खोज होती है। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जिसका पहलेसे अभाव होता है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान होती है। सत्‌का अभाव विद्यमान है ही नहीं—'**नाभावो विद्यते सतः**'; अतः सत्‌की खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक सत्‌की सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोजके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जायँ तो हम उसको जगह-जगह ढूँढ़ते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो तथा वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम उसको जगह-जगह ढूँढ़ते हैं। परमात्मतत्त्वकी खोज गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान है। तात्पर्य है कि जिस परमात्मतत्त्वको हम चाहते हैं और जिसकी हम खोज करते हैं, वह परमात्मतत्त्व अपनेमें ही है! परंतु संसार अपनेमें नहीं है। जो अपनेमें है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिल जाता है। परंतु जो अपनेमें नहीं है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिलता नहीं; क्योंकि

उसकी सत्ता ही नहीं है।

परमात्मतत्त्व कभी अप्राप्त है ही नहीं। उसकी विस्मृति हुई है, अप्राप्ति नहीं हुई है। यह विस्मृति अनादि और सान्त (अन्त होनेवाली) है। जैसे दो व्यक्ति आपसमें एक-दूसरेको पहचानते नहीं तो यह अपरिचय कबसे है—इसको कोई बता नहीं सकता। हम संस्कृत भाषा नहीं जानते तो यह न जानना कबसे है—इसको हम बता नहीं सकते। तात्पर्य है कि व्यक्तियोंकी सत्ता, हमारी सत्ता, संस्कृत भाषाकी सत्ता तो पहलेसे ही है, पर उनका परिचय पहलेसे नहीं है। ऐसे ही विस्मृतिके समय भी परमात्मतत्त्वकी सत्ता ज्यों-की-त्यों है। परमात्मतत्त्व तो नित्यप्राप्त है, पर उसकी विस्मृति है अर्थात् उधर दृष्टि नहीं है, उससे विमुखता है, उससे अपरिचय है, उसकी अप्राप्तिका वहम है। परमात्मतत्त्वकी खोज करनेपर यह विस्मृति मिट जाती है और स्मृति प्राप्त हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३)।

परमात्मतत्त्वकी खोजमें अभ्यास नहीं है। अभ्यास करनेसे हम तत्त्वसे अलग हो जाते हैं। ज्यों अभ्यास करते हैं, त्यों तत्त्वसे अलग होते हैं। इसलिये कहा है—

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

(मानस ७। ११६। ६)

अगर साधकको अभ्यास करना ही हो तो इतना ही अभ्यास करे कि 'मुझे कुछ नहीं करना है!' हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। सत्तामात्रमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई कमी नहीं आती। कारण कि भावका अभाव हो ही कैसे सकता है! इसलिये अपने लिये कभी किञ्चिन्मात्र भी किसी चीजकी जरूरत हुई नहीं,

है नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं। अत: अपने लिये अपनेको कुछ नहीं करना है। करने तथा न करनेका आग्रह होनेसे अहंकार आता है और करने तथा न करनेका आग्रह न होनेसे अहंकार छूट जाता है। असत्‌के संगके बिना स्वरूप कुछ कर सकता ही नहीं; क्योंकि स्वरूपमें कर्तृत्व है ही नहीं। समाधिमें भी असत्‌का संग रहता है, जिसके कारण समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। परंतु कुछ न करनेमें असत्‌का संग नहीं है। पहले भी कुछ नहीं था, पीछे भी कुछ नहीं रहेगा; अत: अभी भी कुछ नहीं है—**'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'** (माण्डूक्यकारिका ४। ३१)। कुछ नहीं रहना निरन्तर है। घोर-से-घोर प्रवृत्तिमें भी निवृत्ति निरन्तर है। इस निवृत्तिको अर्थात् कुछ नहीं करनेको ही 'परम विश्राम' कहा गया है—**'पायो परम बिश्रामु'** (मानस ७। १३०। छं० ३)। श्रमका तो आदि और अन्त होता है, पर विश्रामका आदि और अन्त नहीं होता। विश्राम निरन्तर रहता है। श्रमके समय भी विश्राम ज्यों-का-त्यों रहता है। परंतु हमारी दृष्टि श्रमपर ही रहती है, विश्रामकी तरफ नहीं जाती। असत्‌का सर्वथा त्याग होनेपर नित्यप्राप्त विश्रामकी प्राप्ति हो जाती है।

वास्तवमें असत्‌के त्यागमें ही सत्‌की खोज निहित है। ज्ञान भी असत्‌का ही होता है, सत्‌का नहीं। असत्‌को असत्-रूपसे जानना ही ज्ञान है। ज्ञानसे असत्‌की निवृत्ति हो जाती है और सत् ज्यों-का-त्यों शेष रह जाता है; क्योंकि सत् नित्यप्राप्त है। असत्‌की मानी हुई सत्ता और महत्ता ही नित्यप्राप्त सत्‌के अनुभवमें बाधक है। अत: सत्‌की प्राप्ति तो स्वत:सिद्ध है, कमी असत्‌के

त्यागकी ही है। सत्की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत असत्की निवृत्ति होती है। असत्की सत्ता कल्पित है, उसका कोई मूल आधार नहीं है। अतः असत्का त्याग स्वतः है, सुगम है और श्रेष्ठ है! इसमें एक मार्मिक बात है कि वास्तवमें असत्का त्याग नहीं करना है, प्रत्युत असत्के अभावका अनुभव करना है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६) 'असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है।' कारण कि त्याग करनेसे अहम् (त्यागी) शेष रहेगा, जब कि अभावको स्वीकार करनेसे अहम् शेष नहीं रहेगा। जबतक अहंरूपी अणु है, तबतक असत्का संग है। असत्का वास्तविक त्याग अहंरूपी अणुके टूटनेपर ही होता है।

स्वरूपमें अहम् नहीं है। अहंरहित स्वरूपका बोध ही वास्तविक बोध है। अहंरहित स्वरूपका बोध होनेके लिये दो युक्तियाँ बहुत कामकी हैं—

(१) सुषुप्तिमें अहम् नहीं रहता, पर स्वरूप रहता है। अतः सभीको सुषुप्तिके समय अहम्के अभावका और स्वयंके भावका अनुभव होता है, जिसका स्पष्ट बोध जगनेपर होता है। जैसे, जगनेके बाद हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था'; परंतु 'कुछ पता नहीं था'—इसका तो पता था ही। अतः 'कुछ पता नहीं था'—यह अहम्का अभाव है और इसका ज्ञान जिसको है, वह अहंरहित स्वरूप है।

(२) जीव अनेक योनियोंमें जाता है तो योनियाँ बदलती हैं, शरीर बदलते हैं, पर स्वयं वही रहता है। अलग-अलग योनियोंमें अहम् भी अलग-अलग रहता है, पर स्वयंकी सत्ता

सभी योनियोंमें एक ही रहती है।

'मैं हूँ'—यह अहंसहित सत्ता है और 'है'—यह अहंरहित सत्ता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं हूँ' को न देखकर 'है' में ही रहे। 'मैं' (अहम्) तो 'तू', 'यह' और 'वह' हो जाता है, पर 'है' सदा 'है' ही रहता है। तात्पर्य है कि 'मैं' तो बदलता है, पर 'है' नित्य ज्यों-का-त्यों रहता है। परंतु जबतक 'मैं' रहता है, तबतक 'है' का अनुभव नहीं होता, प्रत्युत 'हूँ' का ही अनुभव होता है। 'हूँ' में 'मैं' (असत्) का अंश भी है और 'है' (सत्) का अंश भी है। परंतु 'मैं' की मुख्यता रहनेके कारण 'है' गौण हो जाता है। तात्पर्य है कि 'मैं' का संस्कार मुख्य होनेसे अन्तःकरणमें 'मैं' ही छाया रहता है, जिससे 'है' का अनुभव नहीं होता। इतना ही नहीं, 'मैं' की मुख्यता होनेसे 'है' भी 'मैं' के आश्रित दीखता है, जो कि वास्तवमें है नहीं। जब साधक यह अनुभव कर लेता है कि 'मैं' एकदेशीय, दृश्य (दीखनेवाला) और ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है, तब आकाशमें तारेकी तरह 'मैं' अल्प हो जाता है अर्थात् 'मैं' की मुख्यता मिट जाती है। मुख्यता मिटनेपर 'मैं' गौण हो जाता है और 'है' मुख्य हो जाता है। 'है' की मुख्यता होनेपर 'मैं' की कृत्रिम सत्ता लुप्त हो जाती है; क्योंकि जो अल्प होता है, वह मर्त्य होता है—**'यदल्पं तन्मर्त्यम्'** (छान्दोग्य० ७। २४। १)। 'मैं' के मिटनेपर 'हूँ' 'है' में परिणत हो जाता है, जो कि पहलेसे ही है—

तेरा साहिब है घट मांही, बाहर नैना क्यों खोले।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, साहिब पाया तृण-ओले॥

'मैं' ही तृण है, जिसकी ओटमें 'है' छिपा हुआ है! इस प्रकार अहंरहित स्वरूपके साक्षात्कारको ही उपनिषद्‌में कहा है—

आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः।

(बृहदा० ४। ४। १२)

इस अहंरहित चिन्मय सत्तामें न देश है, न काल है, न वस्तु है, न क्रिया है, न व्यक्ति है, न घटना है, न परिस्थिति है, न अवस्था है, न जड़ है, न चेतन है, न स्थावर है, न जंगम है, न लोक है, न परलोक है, कुछ नहीं है, केवल चिन्मय सत्तामात्र है। इस चिन्मय सत्तामें सबकी स्वतःस्वाभाविक स्थिति है। सत्तामें स्वतःस्वाभाविक स्थितिको ही परम विश्राम, सहज समाधि, सहजावस्था* आदि नामोंसे कहा गया है। सहजावस्था स्वतःसिद्ध है। उसमें न प्रयत्न है, न अप्रयत्न है; न करना है, न नहीं करना है; न संयोग है, न वियोग है; न भाव है, न अभाव है; न स्थिरता है, न चञ्चलता है; न आना है, न जाना है। यह सहजावस्था कभी बनती-बिगड़ती नहीं। चाहे महाप्रलय हो जाय, चाहे महासर्ग हो जाय, चाहे करोड़ों ब्रह्माजी बीत जायँ, पर सहजावस्था ज्यों-की-त्यों रहती है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

(गीता १४। २)

* वास्तवमें सहजावस्था कोई अवस्था नहीं है, पर उस तत्त्वको समझनेके लिये अपनी भाषासे उसको सहजावस्था कह देते हैं। वास्तवमें भाषा वहाँतक पहुँचती ही नहीं।

'इस ज्ञानका आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मताको प्राप्त हो गये हैं, वे महासर्गमें भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते।'

भगवान्‌ने बहुत ही मार्मिक बात कही है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है अर्थात् असत् नित्य-निरन्तर निवृत्त है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् सत् नित्य-निरन्तर प्राप्त है।'

सत्ता एकमात्र सत्-तत्त्वकी ही है। असत्‌की सत्ता है ही नहीं। सत्-ही-सत् है, असत् है ही नहीं। जो निरन्तर बदल रहा है तथा नाशकी तरफ जा रहा है, उस असत्‌की सत्ता हो ही कैसे सकती है? जो भी सत्ता और महत्ता दीखनेमें आती है, वह सब सत्‌के कारण ही है। एक मार्मिक बात है कि सत् ही असत्‌को सत्ता देता है। कारण कि सत् असत्‌का विरोधी नहीं है, प्रत्युत सत्‌की जिज्ञासा असत्‌की विरोधी है। इसलिये ज्ञानी महापुरुष अज्ञानीसे द्वेष नहीं करते, प्रत्युत उनका भी आदर करते हैं। ब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। २२)

'यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्नकी तरह असत्य, अज्ञानरूप तथा

दुःख-पर-दुःख देनेवाला है। आप परमानन्द, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त हैं। यह मायासे उत्पन्न एवं मायामें विलीन होनेपर भी आपमें आपकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है।'

यदि असत् (सृष्टि) की सत्ताको मानें तो भी उसका सनातन तथा अव्यय बीज* सत् ही है—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

(गीता ७। १०)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९। १८)

यदि असत्‌की सत्ता न मानें तो उसका बीज भी नहीं है, प्रत्युत केवल सत्-ही-सत् है—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

सत्-तत्त्वमें न आकर्षण है, न विकर्षण; न उपरति है, न आसक्ति; न सकामभाव है, न निष्कामभाव; न पूर्णता है, न अपूर्णता; केवल सत्-ही-सत् है। आकर्षण-विकर्षण, उपरति-आसक्ति आदि सब सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। अतः साधककी दृष्टि सत्‌की तरफ ही रहनी चाहिये। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसकी तरफ क्या देखें?

जब सत्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर इसमें क्या अभ्यास करें? क्या चिन्तन करें? इसमें न कुछ करना है, न कुछ सोचना है, न कुछ निश्चय करना है, न कुछ प्राप्त करना

* बीज वृक्षसे पैदा होता है और वृक्षको पैदा करके खुद नष्ट हो जाता है। परंतु परमात्मामें ये दोनों ही दोष नहीं हैं—यह बतानेके लिये यहाँ 'सनातन' (७। १०) और 'अव्यय' (९। १८) शब्द आये हैं। तात्पर्य है कि 'सनातन' होनेसे परमात्मा उत्पन्न नहीं होते और 'अव्यय' होनेसे परमात्मा अनन्त सृष्टियोंको उत्पन्न करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

है और न कुछ निवृत्त करना है। अतः असत्‌की निवृत्ति करनी ही नहीं है; क्योंकि असत् नित्यनिवृत्त है और सत्‌की प्राप्ति करनी ही नहीं है, क्योंकि सत् नित्य-निरन्तर प्राप्त है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। न संसारका चिन्तन करें, न परमात्माका चिन्तन करें; क्योंकि चिन्तन करनेसे हम संसारके साथ जुड़ते हैं और परमात्मासे दूर होते हैं। अतः चिन्तन नहीं करना है, प्रत्युत चिन्तन करनेकी शक्ति जिससे प्रकाशित होती है, उसमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना है। जिस ज्ञानके अन्तर्गत वृत्तियाँ दीखती हैं, उस ज्ञानमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव करना है। अपने-आप कोई चिन्तन, स्फुरणा आ जाय तो उसकी तरफ खयाल न करके उसकी उपेक्षा कर दें। जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता) का अनुभव हो जाता है।
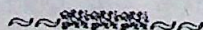
५. सहजनिवृत्ति और स्वतःप्राप्ति

जिसको साधक करना चाहता है, वह स्वतः ही हो रहा है! जैसे, वह संसारकी निवृत्ति करना चाहता है तो संसारकी सहज-निवृत्ति निरन्तर हो रही है और वह परमात्माको प्राप्त करना चाहता है तो परमात्मा स्वतःप्राप्त हैं।

एक विभाग जड़ प्रकृति (शरीर तथा संसार) का है और एक विभाग चेतन तत्त्व (जीवात्मा तथा परमात्मा) का है। प्रकृतिकी सहजनिवृत्ति है और तत्त्वकी स्वतःप्राप्ति है।

प्रकृतिमें निरन्तर परिवर्तनरूप क्रिया हो रही है। वह किसी भी अवस्थामें अक्रिय नहीं रहती। प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा सर्ग-महासर्ग और प्रलय-महाप्रलय—दोनों ही अवस्थाओंमें प्रकृतिकी क्रियाशीलता (सहजनिवृत्ति) ज्यों-की-त्यों रहती है। अतः उसकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य है कि अपना शरीर तथा स्त्री, पुत्र, धन, जमीन, मकान आदि पहले भी हमारे साथ नहीं थे, बादमें भी हमारे साथ नहीं रहेंगे तथा अभी भी निरन्तर हमारेसे बिछुड़ रहे हैं। परंतु तत्त्वकी स्वतःप्राप्ति है; क्योंकि वह कभी भी हमारेसे बिछुड़ता नहीं। जैसे यह सबका अनुभव है कि बचपनमें हमारा शरीर जैसा था, वैसा अब नहीं है, सर्वथा बिछुड़ गया और अब भी निरन्तर बिछुड़ रहा है; परंतु हम स्वयं वही हैं, जो कि बचपनमें थे। अतः जो निरन्तर बिछुड़ रहा है, वह असत् है तथा उसकी सहजनिवृत्ति है और जो वही है, कभी बिछुड़ता नहीं, वह सत् है तथा उसकी स्वतःप्राप्ति है।

असत्की सहज निवृत्ति है अर्थात् उसकी निवृत्ति करनी नहीं

पड़ती, प्रत्युत वह स्वतः निरन्तर निवृत्त हो रहा है। यह सहजनिवृत्ति स्वतःसिद्ध है। इस सहजनिवृत्तिका कभी अभाव होता ही नहीं, इसमें कभी बाधा पड़ती ही नहीं, इसमें कभी विश्राम होता ही नहीं।

जैसे पृथ्वी अपनी धुरीपर निरन्तर घूम रही है, ऐसे ही देखने-सुनने-समझनेमें जो संसार आता है, उसकी निरन्तर निवृत्ति हो रही है। संसारमात्र निरन्तर अभावमें जा रहा है। चाहे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हो, चाहे जन्म, जीवन और मरण हो, चाहे बालक, जवान और वृद्धावस्था हो, सहजनिवृत्ति ज्यों-की-त्यों है। घोर-से-घोर प्रवृत्तिमें भी सहजनिवृत्ति ज्यों-की-त्यों है, उसका भान चाहे न हो।

सत्‌की स्वतःप्राप्ति है। सत् कभी अप्राप्त हुआ ही नहीं, अप्राप्त है ही नहीं, अप्राप्त होगा ही नहीं, अप्राप्त होना सम्भव ही नहीं। वह सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। सत्‌की प्राप्ति स्वतःसिद्ध है, करनी नहीं पड़ती। पापी-से-पापी, अज्ञानी-से-अज्ञानी मनुष्य हो अथवा पुण्यात्मा, तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुष हो, सत् (स्वतःप्राप्त तत्त्व) किसीको भी अप्राप्त नहीं है। फर्क केवल इतना है कि अज्ञानी उसका अनुभव नहीं करता और ज्ञानी उसका अनुभव करता है। प्राप्तको अप्राप्त और अप्राप्तको प्राप्त मान लिया—इस भूलके कारण ही स्वतःप्राप्तका अनुभव नहीं होता।

जिसकी निरन्तर सहजनिवृत्ति है, उसका सुख लोलुपतापूर्वक आकर्षण ही स्वतःप्राप्तके अनुभवमें खास बाधक है। आकर्षणका कारण है—असत्‌की सत्ता और महत्ता, जो कि हमारी ही दी हुई है। अगर हम असत्‌को सत्ता और महत्ता न दें तो उसकी ताकत

नहीं है कि वह हमारेको अपनी तरफ आकर्षित कर सके। जैसे, पहले भोगे हुए भोगकी याद आती है तो एक सुखका अनुभव होता है और दुःखकी याद आती है तो दुःखका अनुभव होता है। सुख-दुःखका वह भोग अभी नहीं है, उसका वर्तमानमें सर्वथा अभाव है, फिर भी उसके चिन्तनमात्रसे सुख अथवा दुःख मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि हमने उसको सत्ता और महत्ता दी है, जो कि अभावरूप है! अगर सत्ता और महत्ता न देते तो जिसका वर्तमानमें अभाव है, उस भूतकालके चिन्तनसे सुख अथवा दुःख नहीं होता।

जैसे भूतकालकी वस्तु वर्तमानमें अप्राप्त है, ऐसे ही वर्तमानमें मिली हुई वस्तु भी अप्राप्त है! मिली हुई वस्तु निरन्तर बिछुड़ रही है। जैसे भूतकालकी वस्तु याद आयी और भूल गयी, ऐसे ही वर्तमानकी वस्तु मिल गयी और बिछुड़ गयी—दोनोंमें क्या फर्क हुआ? उसकी प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, प्रत्युत निवृत्ति ही सिद्ध होती है।

यह नियम है कि जो किसी भी जगह अप्राप्त है, वह सभी जगह अप्राप्त है। जो किसी भी समय अप्राप्त है, वह सदा ही अप्राप्त है। जो किसी भी वस्तुमें अप्राप्त है, वह सभी वस्तुओंमें अप्राप्त है। जो किसी भी मनुष्यको अप्राप्त है, वह सभी मनुष्योंको अप्राप्त है। जो किसी भी अवस्थामें अप्राप्त है, वह सभी अवस्थाओंमें अप्राप्त है। जो किसी भी परिस्थितिमें अप्राप्त है, वह सभी परिस्थितियोंमें अप्राप्त है। तात्पर्य है कि जो किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदिमें अप्राप्त है, वह कहीं भी प्राप्त नहीं है; क्योंकि मिला हुआ निरन्तर बिछुड़ रहा है। अतः वास्तवमें संसार कभी प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त

होगा नहीं, प्राप्त होना सम्भव ही नहीं। जिसकी निरन्तर सहजनिवृत्ति है, उसकी प्राप्ति हो ही कैसे सकती है?

संसारमें राग होनेके कारण ही सहजनिवृत्तिमें भी प्रवृत्ति दीखती है, अप्राप्त भी प्राप्त दीखता है। जैसे हमारी उम्र प्रतिक्षण नष्ट हो रही है, शरीर प्रतिक्षण मर रहा है; परंतु असत्‌में रागके कारण हमें दीखता है कि हम (शरीरसे) जी रहे हैं।

असत्‌के रागके कारण ही यह कहना पड़ता है कि सहजनिवृत्ति निरन्तर हो रही है। वास्तवमें तो संसार सहजनिवृत्त, स्वत:निवृत्ति, नित्यनिवृत्त ही है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत्‌का भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने इन दोनोंका ही अन्त (तत्त्व) देखा है।'

जो निवृत्त है, वह 'असत्' है और वह कभी प्राप्त नहीं होता। जो प्राप्त है, वह 'सत्' है और वह कभी निवृत्त नहीं होता। निवृत्तका नित्यवियोग है और प्राप्तका नित्ययोग है। असत्‌का केवल अभाव-ही-अभाव है और इस अभावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता। सत्‌का केवल भाव-ही-भाव है और इस भावका कभी अभाव नहीं होता। असत् असत् ही है और सत् सत् ही है। असत् है ही नहीं और सत् है ही! तत्त्वज्ञ महापुरुषोंने सत् और असत्—दोनोंका ही तत्त्व देखा है। तात्पर्य है कि सत्‌का तत्त्व भी सत् है और असत्‌का तत्त्व भी सत् है अर्थात् दोनोंका तत्त्व सत् (सत्तामात्र) ही है।

असत्‌को सत्ता देनेसे ही निवृत्त (सहजनिवृत्त) और प्राप्त (स्वतःप्राप्त)—ये दो विभाग कहे जाते हैं। असत्‌को सत्ता न दें तो न निवृत्त है, न प्राप्त है, प्रत्युत सत्तामात्र ज्यों-की-त्यों है! दूसरे शब्दोंमें जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है; क्योंकि जब असत्‌की सत्ता है ही नहीं, तो फिर सत् ही शेष रहेगा। इसीको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** कहा है।

जैसा है, वैसा जान लेनेका नाम 'ज्ञान' है। है और तरहका, जाने और तरहसे—इसका नाम 'अज्ञान' है। जैसे, संसारकी निरन्तर सहजनिवृत्ति हो रही है—ऐसा जानना ज्ञान है और संसार प्राप्त है—ऐसा जानना अज्ञान है। परमात्मतत्त्व स्वतःप्राप्त है—ऐसा जानना ज्ञान है और परमात्मतत्त्व अप्राप्त है—ऐसा जानना अज्ञान है। अतः साधकके लिये खास बात यह है कि वह 'संसारकी निरन्तर सहजनिवृत्ति हो रही है और तत्त्व सभीको स्वतः प्राप्त है'—इस ज्ञान (विवेक) को महत्त्व दे। महत्त्व देनेसे यह ज्ञान ही तत्त्वज्ञानतक पहुँच जायगा और अज्ञान सर्वथा मिट जायगा।

प्रश्न—संसारकी निरन्तर सहजनिवृत्ति हो रही है—यह तो प्रत्यक्ष दीखता है, पर तत्त्व स्वतःप्राप्त है—यह कैसे दीखे?

उत्तर—जिस ज्ञानके अन्तर्गत सहजनिवृत्ति दीखती है, वह ज्ञान निरन्तर स्वतःप्राप्त है। कारण कि निरन्तर मिटनेवालेको मिटनेवाला नहीं देख सकता, प्रत्युत रहनेवाला ही देख सकता है। जानेवालेका अनुभव जानेवालेको नहीं हो सकता, प्रत्युत रहनेवालेको ही हो सकता है। विनाशीका अनुभव विनाशीको नहीं हो सकता, प्रत्युत अविनाशीको ही हो सकता है। बदलनेवालेको बदलनेवाला नहीं जान सकता, प्रत्युत न बदलनेवाला ही जान सकता है।

सीमितका ज्ञान सीमितको नहीं हो सकता, प्रत्युत असीमको ही हो सकता है।

जाननेवालेका विभाग अलग है और जाननेमें आनेवालेका विभाग अलग है। जाननेवाला 'सत्' है और जाननेमें आनेवाला 'असत्' है। न बदलनेवाला 'सत्' है और बदलनेवाला 'असत्' है। अतः जिससे सहजनिवृत्ति दीखती है, वही स्वतःप्राप्त है और वही हमारा स्वरूप है।

देखनेवाला 'है' है और दीखनेवाला 'नहीं' है। इसीलिये कहा है—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

'नहीं' को 'है' माननेसे दृष्टि 'नहीं' में ही अटक जाती है, 'है' तक पहुँचती ही नहीं, फिर 'है' कैसे दीखे? अतः साधकको चाहिये कि वह जिस ज्ञानके अन्तर्गत 'नहीं' दीख रहा है, उस ज्ञानमें स्थिर अर्थात् चुप हो जाय। फिर जो अभी नहीं दीखता है, वह दीखने लग जायगा!

संसारमें तरह-तरहकी क्रियाएँ हो रही हैं, व्यवहार हो रहा है, परिवर्तन हो रहा है, पर वह सब जिसके अन्तर्गत हो रहा है, उस 'है' में क्रिया, व्यवहार, परिवर्तन आदि कुछ नहीं है। वह नित्य सत्ता ('है') ज्यों-की-त्यों है। कोई जन्म रहा है, कोई मर रहा है; कोई आ रहा है, कोई जा रहा है; कोई हँस रहा है, कोई रो रहा है; कोई सुखी है, कोई दुःखी है; कोई क्रुद्ध है, कोई शान्त है; कोई भोगमें लगा है, कोई योगमें लगा है; कोई बोल रहा है, कोई चुप बैठा है; कोई जाग रहा है, कोई सो रहा है; परन्तु इन सबमें एक ही सत्ता समानरूपसे ज्यों-की-

त्यों परिपूर्ण है। उस सत्तामें कभी किञ्चित् भी कोई फर्क नहीं पड़ता। अतः मर्यादापूर्वक सब व्यवहार करते हुए भी साधककी दृष्टि उस समरूप सत्तापर ही रहनी चाहिये। गीतामें आया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्मतत्त्वको देखनेवाले होते हैं।'

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित तथा समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

यह नित्य सत्ता ही कर्मयोगकी दृष्टिसे 'अकर्म' है, ज्ञानयोगकी दृष्टिसे 'आत्मा' है और भक्तियोगकी दृष्टिसे 'भगवान्' है। इसलिये कर्मयोगी कर्ममें अकर्मको तथा अकर्ममें कर्मको देखता है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

(गीता ४। १८)

ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

(गीता ६। २९)

भक्तियोगी सबमें भगवान्‌को तथा भगवान्‌में सबको देखता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(गीता ६। ३०)

तात्पर्य है कि कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंमें एक अकर्म (कर्मोंके साथ सम्बन्धका अभाव अर्थात् निर्लिप्तता) को ही देखता (अनुभव करता) है, ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक आत्माको ही देखता है और भक्तियोगी सबमें एक भगवान्‌को ही देखता है। कर्मयोगी कर्म और कर्मफलके साथ सम्बन्ध न रखकर केवल दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करता है। अतः उसको कर्मोंके साथ सम्बन्धके अभावका अर्थात् निर्लिप्तताका अनुभव हो जाता है। जैसे मनमें कभी हरिद्वारका चिन्तन होता है, कभी कलकत्तेका चिन्तन होता है और मनमें वहाँकी अलग-अलग वस्तुएँ, प्राणी आदि दीखने लगते हैं तो वह सब कुछ मन ही बना हुआ है। मनोराज्यमें एक मनके सिवाय किसी भी प्राणी-पदार्थकी सत्ता नहीं है। ऐसे ही ज्ञानयोगीकी दृष्टिमें एक आत्माके सिवाय और किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। जैसे ब्रह्माजीने ग्वालबालोंको और बछड़ोंको चुरा लिया तो भगवान् श्रीकृष्ण ही ग्वालबाल, बछड़े आदि अनेक रूपोंमें हो गये। भगवान्‌की इस लीलाका पता किसीको भी नहीं लगा। एक दिन गायोंका अपने बछड़ोंके प्रति और गोपोंका अपने बालकोंके प्रति अपूर्व स्नेह देखकर बलदेवजीको शंका हुई तो उन्होंने देखा कि एक भगवान् श्रीकृष्ण ही बछड़ों और ग्वालबालोंके रूपमें बने हुए हैं। ऐसे ही भक्तियोगी सब रूपोंमें भगवान्‌को ही देखता है अर्थात् उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय और किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती।

चाहे अकर्म कहें, चाहे आत्मा कहें और चाहे भगवान् कहें, तत्त्वसे तीनों एक (बोधस्वरूप सत्तामात्र) ही हैं। उस चिन्मय सत्ता ('है') की तरफ दृष्टि, लक्ष्य चला जाय—यही उसकी प्राप्ति है! फिर भी कोई दोष, विकार दीखे तो साधकको घबराना नहीं चाहिये। जैसे साँपको देखकर हम डर गये, पर उसी समय पता लगा कि यह तो रस्सी है। रस्सीका पता लगनेपर भी कुछ देरतक भयका असर रहता है, हाथोंमें कँपकँपी रहती है, हृदय धड़कता रहता है। परंतु यह कँपकँपी, धड़कन अपने-आप शान्त हो जाती है। ऐसे ही साधककी दृष्टि एक 'है' पर ही रहे तो सब विकार अपने-आप शान्त हो जायँगे। वह 'है' इतना ठोस है कि उसमें कोई दूसरी चीज प्रवेश कर सकती ही नहीं। उसमें किसी शंका आदिके लिये स्थान ही नहीं है। जब हमारी दृष्टि वहाँ नहीं थी, तब भी वह 'है' ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण था और अब वहाँ दृष्टि जानेपर भी वह ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है—

दौड़ सकै तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

इसी बातको अर्जुनने कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३) 'मेरा मोह नष्ट हो गया है तथा स्मृति प्राप्त हो गयी है।'

भूल मिटनेका नाम 'स्मृति' है। भूल जाने हुएकी ही होती है और जाननेके अन्तर्गत ही प्रकाशित होती है। जिसकी सत्ता विद्यमान नहीं है, उसको विद्यमान मान लिया—यह भूल है। भूलको भूलरूपसे जानते ही भूल मिट जाती है और स्मृति प्राप्त हो जाती है। इस स्मृतिकी फिर कभी विस्मृति नहीं होती

'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव' (गीता ४। ३५)। कारण कि स्मृति अर्थात् बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। तात्पर्य है कि बोधकी आवृत्ति नहीं होती। बोध एक बार अनुभवमें, दृष्टिमें आ गया तो सदाके लिये आ ही गया! वास्तवमें बोधका अभाव विद्यमान है ही नहीं अर्थात् बोध स्वतःप्राप्त है और उसको जाननेवाला अन्य कोई नहीं है। जबतक बोधको जाननेवाला अन्य कोई है, तबतक वास्तवमें बोध हुआ ही नहीं। स्वयं बोधस्वरूप है और उसको जाननेवाला भी स्वयं ही है, जैसा कि अर्जुनने भगवान्‌के लिये कहा है—**'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम'** (गीता १०। १५) 'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।'

प्रश्न—बोध स्वतःप्राप्त कैसे है?

उत्तर—यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि नाशवान् हमारे जाननेमें आता है और हम उसको जाननेवाले हैं। अहम् हमारे जाननेमें आता है और हम उसको जाननेवाले हैं। विकार हमारे जाननेमें आते हैं और हम उनको जाननेवाले हैं। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि सबका अभाव हमारे जाननेमें आता है, पर अपना (स्वयंका) अभाव कभी हमारे जाननेमें नहीं आता। जो जाननेमें आता है, वह हमारेसे अलग है और जो जानता है, वह हमारा स्वरूप है। जो जाननेमें आता है, वह असत् है तथा उसकी सत्ता विद्यमान नहीं है और जो जाननेवाला है, वह सत् है तथा उसका अभाव विद्यमान नहीं है। अतः जाननेमें आनेवाला और जाननेवाला—दोनोंका विभाग बिलकुल अलग-अलग है—यह वास्तविक बात हमारे

जाननेमें आ गयी, अनुभवमें आ गयी, दृष्टिमें आ गयी, तो फिर इसमें क्या अभ्यास है? हम एक नदीको देख रहे हैं और किसी जानकार आदमीने बताया कि यह गङ्गाजी है, तो अब इसमें क्या अभ्यास है? यह गङ्गाजी है—यह ज्ञान एक ही बार होगा, बार-बार नहीं होगा और सदाके लिये होगा। कारण कि सच्ची बात कभी कच्ची नहीं हो सकती और कच्ची बात कभी सच्ची नहीं हो सकती। सच्ची बातको स्वीकार करनेमें क्या परिश्रम है? अभ्यास तो दृढ़-अदृढ़ होता है, पर सच्ची बातकी स्वीकृति कभी अदृढ़ होती ही नहीं! तात्पर्य यह हुआ कि बोध तो स्वतःप्राप्त है, पर हमारे पुराने संस्कार, पुरानी मान्यताएँ उसमें बाधक हो रही हैं, जो कि असत्-रूप हैं और सत्तारूपसे मानी हुई हैं; जैसे—सब काम धीरे-धीरे समय पाकर होते हैं, फिर बोध तत्काल कैसे हो जायगा? अनादिकालका अज्ञान इतनी जल्दी कैसे मिट जायगा? आदि-आदि। यह सब हमारा वहम है। एक गुफामें लाखों वर्षोंसे अँधेरा हो और उसमें दीपक जला दिया जाय तो क्या अँधेरा दूर होनेमें भी लाखों वर्ष लगेंगे?

साधकको आज ही यह बात समझकर दृढ़ कर लेनी चाहिये कि असत्‌का विभाग ही अलग है। स्वयंका असत्‌से सम्बन्ध कभी हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, है ही नहीं और होना सम्भव ही नहीं। असत्‌से तादात्म्य (मैं-मेरापन) के कारण ही असत्‌का आकर्षण स्वयंमें दीखता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो असत्‌में ही असत्‌का आकर्षण है, असत्‌में ही असत्‌की सत्ता और महत्ता है, असत्‌में ही सब दोष हैं, असत्‌में ही सब विकार हैं, असत्‌में ही कर्ता और भोक्ता है, असत्‌में ही

उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है, असत्‌में ही भूत, भविष्य और वर्तमान है, असत्‌में ही क्रिया और पदार्थ हैं, असत्‌में ही जन्म-मरण है, असत्‌में ही बन्धन है! स्वयं (सत्) तो इन सबको जाननेवाला तथा इनसे अलग है। ये जन्म-मरण आदि सब बातें तो भूतकालकी हैं, उनकी सत्ता ही नहीं है। परंतु स्वयं सदा वर्तमान है। गीतामें आया है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

(१३। २३)

अर्थात् जो सर्वथा वर्तमान है, उसका फिर जन्म नहीं होता। कारण कि जो सदा वर्तमान ही रहता है, वह कैसे मरेगा? और बिना मरे फिर जन्म भी कैसे होगा? वर्तमान तो सदा निर्दोष ही होता है।

प्रश्न—मनुष्य जो भी दोष करता है, वह वर्तमानमें ही करता है, फिर वर्तमान निर्दोष कैसे?

उत्तर—वर्तमानका अर्थ है—स्वयं; क्योंकि स्वयं निरन्तर वर्तमान (विद्यमान) रहता है—'**नाभावो विद्यते सतः**'। स्वयंका वर्तमान होना कालके अधीन नहीं है अर्थात् इसमें भूत, भविष्य और वर्तमानका भेद नहीं है। अतः स्वयंका स्वरूप है—सत्तामात्र। यह सत्ता निरन्तर रहनेवाली और सर्वथा निर्दोष है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९)। इसलिये किसीका भी वर्तमान दोषी नहीं है।

अगर कालकी दृष्टिसे विचार करें तो भी वर्तमानकाल सबका निर्दोष है। कारण कि मनुष्य भूतकालमें किये दोषसे ही अपनेको दोषी मानता है। दोषके समय मनुष्य अपनेको दोषी नहीं मानता; क्योंकि उस समय उसमें बेहोशी, असावधानी

रहती है। अतः वर्तमानमें वह है तो निर्दोष ही!

दोषोंकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। गुणोंकी कमीको ही दोष कह देते हैं। निर्दोषता स्वतःसिद्ध है और कमी अपनी ही बनायी हुई है। असत्‌को सत्ता और महत्ता देनेसे ही अपनेमें कमी प्रतीत होती है। अतः सम्पूर्ण दोषोंकी प्रतीति असत्‌को सत्ता और महत्ता देनेसे ही है। अगर असत्‌को सत्ता और महत्ता न दें तो दोषोंकी प्रतीति है ही कहाँ?

दोषोंका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और निर्दोषताका अभाव विद्यमान नहीं है। दोषोंका आदि और अन्त होता है, पर निर्दोषताका आदि और अन्त नहीं होता। इसलिये दोषोंके आदि-अन्तका, आने-जानेका तथा अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने (स्वयंके) आदि-अन्तका, आने-जानेका तथा अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता; क्योंकि स्वयं निरन्तर निर्दोष, निर्विकार रहता है। तात्पर्य है कि दोषोंकी सहजनिवृत्ति है और निर्दोषता स्वतःप्राप्त है।

६. विभागयोग

गीतामें आया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३। १९)

'प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही तुम अनादि समझो।'

तात्पर्य है कि एक प्रकृति-विभाग है और एक पुरुष-विभाग है। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें हैं और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है; अत: विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं अर्थात् दोनोंमें किञ्चिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति तो असत्, जड़ तथा दु:खरूप है और पुरुष सत्, चित् तथा आनन्दरूप है। प्रकृति नाशवान्, विकारी तथा क्रियाशील है और पुरुष अविनाशी, निर्विकार तथा अक्रिय है। प्रकृतिकी नित्यनिवृत्ति है और पुरुषकी नित्यप्राप्ति है। गीताके आरम्भमें भी भगवान्ने इसी विभागका वर्णन शरीर और शरीरी, देह और देही आदि नामोंसे किया है*। अत: इस विभागको ठीक-ठीक समझना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक तथा शीघ्र बोध करानेवाला है। कारण कि शरीर और शरीरीको एक मानना ही बन्धन है और इन दोनोंको बिलकुल अलग-अलग

---

* पुरुष ही अहम्‌को स्वीकार करनेसे जीव, क्षेत्रज्ञ, शरीरी, देही आदि नामोंसे कहा जाता है।

अनुभव करना ही मुक्ति है। भगवान् कहते हैं—

> क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
> भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥
>
> (गीता १३। ३४)

'जो ज्ञानचक्षु (विवेकदृष्टि) से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको तथा कार्य-कारणसहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग जानते हे, वे परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं।'

जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। इसलिये गीतामें आया है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—

> **प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।**
>
> (१३। २९)

प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही, कहीं 'गुणोंसे होनेवाली क्रियाएँ और कहीं इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**' (३। २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (३। २८); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं—'**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति**' (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—'**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (५। ९) आदि। तात्पर्य है कि क्रियाका विभाग प्रकृतिमें ही है, पुरुषमें नहीं। अतः प्रकृति कभी किञ्चिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किञ्चिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं)

लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है— '**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (५। ८); स्वयं न करता है, न करवाता है— '**नैव कुर्वन्न कारयन्**' (५। १३); यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है— '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (१३। ३१); जो स्वरूपको अकर्ता देखता (अनुभव करता) है, वही यथार्थ देखता है— '**यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति**' (१३। २९); जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है— '**तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥**' (१८। १६) आदि।

शरीर-वाणी-मनके द्वारा जितनी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृतिमें ही होती हैं। पुरुष (स्वयं) में कभी किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। जंगलमें वृक्ष पैदा होते हैं, बढ़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं तो प्रकृतिकी जो समष्टि शक्ति वहाँ काम कर रही है, वही समष्टि शक्ति इस व्यष्टि शरीरमें भी काम कर रही है। खाना-पीना, सोना-जगना आदि सब-का-सब व्यवहार प्रकृतिमें स्वतः हो रहा है। जैसे, भोजन पचाते नहीं हैं, प्रत्युत स्वतः पचता है। बालक माँकी गोदीमें स्वतः बड़ा होता है। शरीरकी अवस्थाएँ स्वतः बदलती हैं। मकान स्वतः पुराना होता है। वर्षा स्वतः होती है। नदी स्वतः बहती है। ऐसे ही अपने कहलानेवाले शरीरके द्वारा खाना-पीना आदि क्रियाएँ भी स्वतः होती हैं। अतः साधकका भाव हर समय यही रहना चाहिये कि क्रियाएँ हो रही हैं, मैं लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ— '**नैव**

किञ्चित्करोमि।' कारण कि क्रियाका विभाग ही अलग है।

सृष्टिमात्रमें स्वतः क्रिया हो रही है। उस क्रियाका लेशमात्र भी कोई कर्ता नहीं है। न परमात्मा कर्ता है, न जीव कर्ता है। स्वतः होनेवाली क्रियाके लिये कर्तृत्वकी जरूरत ही क्या है? प्रकृतिमें स्वाभाविक क्रियता है और पुरुषमें स्वाभाविक अक्रियता है। परंतु जब पुरुष प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ तादात्म्य मान लेता है, तब वह प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाको अपनेमें स्वीकार करके 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानने लगता है— **'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। तात्पर्य है कि वह कर्ता बनता नहीं, केवल कर्तापनकी मान्यता कर लेता है। अपनेको कर्ता मानते ही उसपर शास्त्रीय विधिनिषेध लागू हो जाते हैं और उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है। वस्तुतः स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्वका विभाग ही अलग है। आजतक देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस आदि अनेक योनियोंमें जो भी कर्म किये गये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म स्वरूपतक नहीं पहुँचा तथा कोई भी शरीर स्वरूपतक नहीं पहुँचा; क्योंकि कर्म और शरीर (पदार्थ) का विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है।

जैसे चार कोनोंवाले किसी लोहेके टुकड़ेको अग्निसे तपा दिया जाय तो लोहेसे तादात्म्य होनेके कारण अग्नि भी चार कोनोंवाली दीखने लगती है। ऐसे ही प्रकृतिसे तादात्म्य (प्रकृतिस्थ) होनेपर सर्वथा निर्विकार पुरुषमें भी प्रकृतिका विकार दीखने लगता है। जैसे चुम्बककी तरफ लोहा ही खिंचता है, अग्नि नहीं खिंचती; परंतु लोहेसे तादात्म्य होनेके कारण अग्नि

भी चुम्बककी तरफ खिंचती हुई दीखने लगती है। ऐसे ही प्रकृतिसे तादात्म्य होनेपर सर्वथा अक्रिय पुरुषमें भी प्रकृतिकी क्रिया दीखने लगती है। तात्पर्य है कि वास्तवमें प्रकृतिके साथ मिले बिना पुरुष किञ्चिन्मात्र भी कर्ता और भोक्ता नहीं बन सकता। गीतामें आया है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

(१३। २०-२१)

'कार्य तथा करणकी उत्पत्तिमें एवं पुरुषके कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखके भोक्तापनमें पुरुष हेतु कहा जाता है। परंतु प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता बनता है।'

तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है, पर क्रियाका फल अर्थात् सुख-दुःखकी मान्यता पुरुषमें ही होती है। कारण कि सुख-दुःखका भोग चेतनमें ही हो सकता है, जड़में नहीं। परंतु वास्तवमें प्रकृतिस्थ पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। प्रकृतिमें स्थिति पुरुषने मानी है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये पुरुष किसी भी लोकमें अथवा योनिमें चला जाय, वह वास्तवमें प्रकृतिस्थ होता ही नहीं। वह तो नित्य-निरन्तर स्वस्थ ('स्व' में स्थित) ही रहता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। जब वह शरीरस्थ ही नहीं है, तो फिर वह प्रकृतिस्थ कैसे हो सकता है? परंतु जैसे एक स्त्रीके साथ पति-पत्नीका सम्बन्ध मान लेनेसे उसके पूरे कुटुम्बके साथ सम्बन्ध हो जाता

है, ऐसे ही एक शरीरमें अपनी स्थिति मान लेनेसे उसका मात्र प्रकृतिके साथ सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि शरीरस्थ होते ही पुरुष प्रकृतिस्थ हो जाता है। अगर वह शरीरस्थ न हो तो प्रकृतिस्थ भी नहीं होता। वास्तवमें स्वयं न शरीरस्थ है, न प्रकृतिस्थ, प्रत्युत वह सर्वत्र स्थित है—**'सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते'** (गीता १३। ३२)। सम्पूर्ण क्रियाएँ उसके अन्तर्गत होती हैं। वह सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंका प्रकाशक और आधार है। क्रियाओंका तो आरम्भ होकर अन्त हो जाता है और पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर उनका प्रकाशक और आधार ज्यों-का-त्यों रहता है। क्रिया और पदार्थ प्रकृतिमें हैं। स्वयंमें न क्रिया है, न पदार्थ है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि) के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष बिना प्रकृतिकी सहायताके कुछ नहीं कर सकता। अतः पुरुषपर कुछ करनेकी जिम्मेवारी हो ही नहीं सकती। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती, वह सर्वथा पूर्ण है; अतः पुरुषको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। चिन्मय सत्ताके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं; अतः पुरुषको किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार 'मुझे (स्वयंको) कुछ करना है ही नहीं, मुझे कुछ चाहिये ही नहीं और मेरा कुछ है ही नहीं'—ये तीन बातें ठीक समझमें आ जायँ तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहेगी, पर भोग करनेवाला कोई नहीं रहेगा।

गीतामें आया है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

(१३। ३३)

'हे भारत! जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (पुरुष) सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है।'

तात्पर्य है कि जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् (दृश्यमात्र) को प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है। ऐसे ही स्वयं सम्पूर्ण लोकोंके सब शरीरोंको प्रकाशित करता है अर्थात् उनको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें स्वयं न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है अर्थात् उसमें न कर्तृत्व आता है, न भोक्तृत्व। तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है। इसलिये सिद्ध महापुरुषके लिये स्पष्ट कहा गया है—

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

(गीता ४। २०)

'वह कर्मोंमें अच्छी तरहसे लगा हुआ भी वास्तवमें किञ्चिन्मात्र भी कुछ नहीं करता।'

स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है, केवल इधर विवेकदृष्टि करनी है। तात्पर्य है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको

अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है।

स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और उसमें किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे कौन्तेय! यह पुरुष स्वयं अनादि और निर्गुण होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है।'

जैसे बाहरसे अनेक तरंगें उठती हुई दीखनेपर भी गहराईमें समुद्र शान्त रहता है, ऐसे ही बाहरसे (व्यवहारमें) सब क्रियाएँ होते हुए भी साधकके भीतर स्थिरता रहनी चाहिये। तात्पर्य है कि बाहरसे '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' होते हुए भी भीतरसे '**न करोति न लिप्यते**' रहना चाहिये अर्थात् चिन्मय सत्तामात्रमें स्थित रहना चाहिये।

साधकसे प्रायः यह भूल होती है कि वह खाना-पीना, सोना-जगना आदि लौकिक क्रियाओंको तो प्रकृतिमें होनेवाली मान लेता है—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**', पर जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है। वास्तवमें यह साधकके लिये बाधक है! कारण

कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे नीची-से-नीची क्रिया हो अथवा ऊँची-से-ऊँची क्रिया हो, है वह प्रकृतिकी ही! लाठी घुमाना और माला फेरना—दोनों क्रियाएँ अलग-अलग होनेपर भी प्रकृतिमें ही हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता १८। १५)

'मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव) पाँचों हेतु होते हैं।'

तात्पर्य है कि खाना-पीना, सोना-जगना आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। अतः साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्तःकरणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जड़ताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है*।

* भगवान्‌के लिये की गयी उपासनामें भगवान्‌की कृपा प्रधान होती है; अतः इसमें साधकका कर्तृत्व नहीं है। क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—चारों अलग-अलग हैं। 'क्रिया' किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति (फल) के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। 'उपासना' भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। 'विवेक' जड़-चेतनका सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

जैसे सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिकी हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थ भी प्रकृतिके ही हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

(गीता १८। ४०)

'पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।'

अतः क्रिया और पदार्थ—दोनों ही प्रकृति-विभागमें हैं। पुरुष-विभागमें किञ्चिन्मात्र भी न क्रिया है, न पदार्थ। क्रियाका आदि और अन्त होता है तथा पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश तथा संयोग और वियोग होते हैं; परंतु पुरुष आदि-अन्त, उत्पत्ति-विनाश तथा संयोग-वियोगसे सर्वथा रहित है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। २०)

'यह शरीरी न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और पुराण (अनादि) है। शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

करना, होना और है—ये तीन विभाग हैं। 'करना' होनेमें और 'होना' 'है' में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो

जाता है। जिसके अन्तःकरणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा असाधक (संसारी मनुष्य) मानता है कि 'मैं क्रिया कर रहा हूँ'—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसको भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक अनुभव करता है कि 'क्रिया हो रही है'—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८) अर्थात् 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—'**नैव किञ्चित्करोमीति**' (गीता ५। ८)। परंतु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा सिद्ध महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है') का ही अनुभव करता है—'**योऽवतिष्ठति नेङ्गते**' (गीता १४। २३)। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वतः एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है') पर ही रहती है।

जबतक 'करना' है, तबतक अहंकारके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि अहंकार (कर्तापन) के बिना 'करना' सिद्ध नहीं होता। करनेका भाव होनेपर कर्तृत्वाभिमान हो ही जाता है। कर्तृत्वाभिमान होनेसे 'करना' होता है और करनेसे कर्तृत्वाभिमान पुष्ट होता है। इसलिये किये हुए साधनसे साधक कभी अहंकाररहित हो ही नहीं सकता। अहंकारपूर्वक किया गया कर्म कभी कल्याण नहीं कर सकता; क्योंकि सब अनर्थोंका, जन्म-मरणका मूल अहंकार ही है। अपने लिये कुछ न करनेसे अहंकारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् प्रकृतिमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह

क्रियाको महत्त्व न देकर अपने विवेकको महत्त्व दे। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक स्वतः स्पष्ट होता रहता है और साधकका मार्गदर्शन करता रहता है। आगे चलकर यह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। तत्त्वज्ञान होनेपर चिन्मय सत्तामात्र शेष रहती है। वह सत्ता सर्वथा असंग है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदा० ४। ३। १५)। उस सत्तामें स्वतःसिद्ध स्थिति ही मुक्ति है और उसके सिवाय अन्य (प्रकृति तथा उसके कार्य) का संग ही बन्धन है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

प्रश्न—जो क्रिया हम संकल्पपूर्वक करते हैं, उसमें स्पष्ट ही ऐसा दीखता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। जैसे भूख लगनेपर हम भोजन करनेका संकल्प करते हैं तो यह स्पष्ट दीखता है कि 'मैं भोजन करता हूँ'। अतः क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है, मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ—यह कैसे मानें?

उत्तर—वास्तवमें संकल्प भी प्रकृति (मन) में ही होता है। परंतु विवेक स्पष्ट न होनेके कारण अर्थात् मनसे तादात्म्य माननेके कारण संकल्प अपनेमें दीखता है। भूख लगना स्वयंका धर्म नहीं है, प्रत्युत प्राणोंका धर्म है*। भोजन प्राणोंके पोषणके लिये होता है, अपने पोषणके लिये नहीं। परंतु प्राणोंके साथ तादात्म्य होनेसे ऐसा मालूम होता है कि 'मेरेको भूख लगी है' और यह संकल्प होता है कि मैं भोजन

---

* क्षुधा पिपासा प्राणस्य मनसः शोकमोहकौ।
जन्ममृत्यू शरीरस्य षडूर्मिरहितः स्वयम्॥

करूँ। यदि प्राणोंके साथ एकता न मानें तो भूख लगनेपर भोजन करनेका संकल्प नहीं होगा, प्रत्युत स्फुरणा होगी। स्फुरणा और संकल्पका भेद समझना बहुत आवश्यक है। स्फुरणा तो पैदा होकर मिट जाती है, पर संकल्प पैदा होनेके बाद मिटता नहीं, प्रत्युत उससे फिर कामना पैदा हो जाती है—'**संकल्पप्रभवान् कामान्**' (गीता ६। २४)। स्फुरणा दर्पणकी तरह है। दर्पणपर दृश्य बहुत स्पष्ट दीखता है, पर दर्पण उस दृश्यको पकड़ता नहीं। परंतु संकल्प कैमरेकी फिल्मकी तरह है। कैमरेकी फिल्मपर पड़ा दृश्य पकड़ा जाता है। अतः स्फुरणामें निर्लिप्तता रहती है और संकल्पमें लिप्तता होती है।

सिद्ध महापुरुषमें स्फुरणा होती है और साधारण मनुष्य तथा साधकमें संकल्प होता है। जड़तासे तादात्म्य होनेके कारण साधकको जड़ताकी कमी अपनेमें दीखती है। परंतु जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर सिद्धको जड़ताकी कमी अपनेमें कभी नहीं दीखती; क्योंकि उसकी स्थिति स्वतःसिद्ध चिन्मयतामें होती है। सिद्धका यह स्वाभाविक अनुभव होता है कि क्रियामात्र प्रकृतिमें ही है, स्वयंमें किञ्चिन्मात्र भी नहीं। सिद्धका जो अनुभव होता है, उसीका साधक आदरपूर्वक अनुकरण करता है।

प्रश्न—अनुकरण करनेका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—क्रियामात्रका अपने साथ सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और होना सम्भव ही नहीं—इस बातको दृढ़तासे मान लेना ही सिद्धके अनुभवका अनुकरण करना है।

प्रश्न—दृढ़तासे माननेके लिये जो बुद्धि लगानी पड़ेगी अर्थात् बुद्धिका सम्बन्ध रहेगा, जिससे यह करण-सापेक्ष हो जायगा?

उत्तर—हाँ, पहले बुद्धि लगानी पड़ेगी, कहने और सुननेके लिये वाणी और श्रोत्र भी लगाने पड़ेंगे; परंतु उद्देश्य तत्त्वको जाननेका (अनुभव करनेका) होनेसे परिणाममें बुद्धि आदि करणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

प्रश्न—गीतामें आया है कि कोई भी मनुष्य (**कश्चित्**), किसी भी अवस्थामें (**जातु**), क्षणमात्र भी (**क्षणमपि**) कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३। ५), फिर कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे होगा?

उत्तर—क्रियामात्र केवल प्रकृतिमें ही होती है। परंतु प्रकृतिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करनेसे मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अधीन हो जाता है—'**अवशः**' तथा उसका क्रियाके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेवाला कोई भी मनुष्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि तथा सर्ग-महासर्ग, प्रलय-महाप्रलय आदि किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३। ५)

प्रश्न—सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि-अवस्थामें क्रिया कैसे होती है?

उत्तर—मनुष्य सोता हो और कोई उसको बीचमें ही जगा

दे तो वह कहता है कि मेरेको कच्ची नींदमें जगा दिया! इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिके समय भी नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। ऐसे ही मूर्च्छा और समाधिके समय भी क्रिया होती है। पातञ्जलयोगदर्शनमें इस क्रियाको 'परिणाम' नामसे कहा है*।

'परिणाम' का अर्थ है—परिवर्तनकी धारा अर्थात् बदलनेका प्रवाह†।

तात्पर्य है कि समाधिके आरम्भसे लेकर व्युत्थान होनेतक क्रिया होती रहती है। अगर क्रिया न हो तो व्युत्थान हो ही नहीं सकता। समाधिके समय परिणाम होता है और समाधिके अन्तमें व्युत्थान होता है। प्रकृतिकी सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत है—सहजावस्था। सहजावस्था स्वरूपकी होती है, जिसमें किञ्चिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं है। अतः सहजावस्थामें परिणाम तथा व्युत्थान कभी होता ही नहीं।

प्रश्न—सहजावस्थाकी प्राप्तिका उपाय क्या है?

उत्तर—उपाय है—अपने लिये कुछ न करना अर्थात् खाना-पीना आदि साधारण क्रियाओंसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरेके लिये करना। कारण कि क्रियाएँ दूसरे

---

* व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ ११॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ १२॥

(विभूतिपाद)

† 'अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' (योगदर्शन, विभूति० १३ का व्यासभाष्य)।

'यह परिणाम क्या है? अवस्थित द्रव्यके पूर्व धर्मकी निवृत्ति होकर अन्य धर्मकी उत्पत्ति (अवस्थान्तर) ही परिणाम है।'

(प्रकृतिके) विभागमें ही हैं, स्वरूप-विभागमें नहीं। मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और शरीर भी दूसरे अर्थात् प्रकृतिके ही हैं। निःस्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये सब कर्म करना 'कर्मयोग' है। मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा देखना 'ज्ञानयोग' है। केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करना 'भक्तियोग' है। अपने लिये सब कर्म करना 'जन्ममरणयोग' है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों दृष्टियोंसे अपने लिये लेशमात्र भी कुछ न करनेसे क्रिया और पदार्थसे अर्थात् प्रकृति-विभागसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और एक चिन्मय सत्तामात्रमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। यही सहजावस्था है। यह सहजावस्था स्वतःसिद्ध है, की नहीं जाती। जो की जाती है, वह सहजावस्था नहीं होती, प्रत्युत कृत्रिम अवस्था होती है। इस सहजावस्थाका अनुभव होनेपर फिर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

७. शब्दसे शब्दातीतका लक्ष्य

संसारकी उत्पत्ति तथा प्रतीति होती है। परमात्मतत्त्व उत्पत्तिका आश्रय तथा प्रतीतिका प्रकाशक है। वह सत्तारूपसे उत्पत्तिको आश्रय देता है तथा चेतनरूपसे प्रतीतिको प्रकाश अर्थात् सत्ता-स्फूर्ति देता है। उत्पत्ति निरन्तर विनाशमें तथा प्रतीति निरन्तर अभावमें जा रही है। परंतु उनका आश्रय तथा प्रकाशक नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। उत्पत्ति तथा प्रतीतिमें राग होनेके कारण ही उनके आश्रय तथा प्रकाशकका अनुभव नहीं होता; क्योंकि राग होनेसे उत्पत्ति तथा प्रतीतिसे आगे दृष्टि जाती ही नहीं!

उत्पन्न होनेवाला अपने आश्रयको और प्रतीत होनेवाला अपने प्रकाशकको नहीं जान सकता; क्योंकि जन्य वस्तु अपने जनकको मान सकती है, पर जान नहीं सकती। अतः उत्पत्तिके आश्रय तथा प्रतीतिके प्रकाशकको उत्पत्ति तथा प्रतीति (मन-बुद्धि) से सम्बन्ध-विच्छेद करके स्वयंसे ही जाना जा सकता है; क्योंकि स्वयंकी उत्पत्ति तथा प्रतीति नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है—

'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' (२। ५५)

'अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है।'

'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (६। ५)

'अपने द्वारा अपना उद्धार करे।'

'यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति' (६। २०)

'जब स्वयं अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें सन्तुष्ट हो जाता है।'

तात्पर्य है कि वह तत्त्व स्वसंवेद्य है, परसंवेद्य नहीं। मनसे जो चिन्तन किया जाता है, वह मनके विषय (अनात्मा) का ही चिन्तन होता है, परमात्माका नहीं। बुद्धिसे जो निश्चय किया जाता है, वह बुद्धिके विषयका निश्चय होता है, परमात्माका नहीं। वाणीसे जो वर्णन किया जाता है, वह वाणीके विषयका ही वर्णन होता है, परमात्माका नहीं। तात्पर्य है कि मन-बुद्धि-वाणीसे प्रकृतिके कार्यका ही चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन किया जाता है। परंतु परमात्माकी प्राप्ति मन-बुद्धि-वाणीसे विमुख (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर ही होती है। उपनिषद्में आया है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १। ४)

'जो वाणीसे नहीं बोला जाता, प्रत्युत जिससे वाणी बोली जाती है, उसीको तू ब्रह्म जान। वाणीसे बोलनेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।'

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १। ५)

'जो मन (अन्तःकरण) से नहीं जाना जाता, प्रत्युत जिससे मन जाना हुआ कहा जाता है, उसीको तू ब्रह्म जान। मन-बुद्धिसे जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।'

प्रकृतिके कार्य मन-बुद्धि-वाणीसे जब प्रकृतिका भी वर्णन नहीं हो सकता, तो फिर प्रकृतिसे अतीत तत्त्वका वर्णन हो ही कैसे सकता है? हम प्रकृतिके राज्य (शरीर-संसार) में बैठे हैं।

अतः प्रकृतिके अंश (मन-बुद्धि-इन्द्रियों) से ही हम सत्-तत्त्व (परमात्मा) का वर्णन करते हैं; परंतु वह वर्णन वास्तवमें असत्का ही होता है। सत्का वर्णन तो कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं! इसलिये उपनिषद्में आया है—

वाचा वदति यत्किञ्चित्संकल्पैः कल्प्यते च यत्।
मनसा चिन्त्यते यद्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः॥

(तेजोबिन्दु० ५। ४५)

'वाणीसे जो कुछ बोला जाता है, संकल्पोंसे जो कुछ कल्पना की जाती है तथा मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, वह सब-का-सब मिथ्या ही है, इसमें कोई संशय नहीं है।'

शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह परमात्मतत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये ही है। कारण कि परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता, प्रत्युत शाखाचन्द्रन्यायसे परमात्माका निर्देश किया जा सकता है। अतः शास्त्र और सन्त शब्दोंसे शब्दातीतका लक्ष्य कराते हैं, वर्णनसे वर्णनातीतका लक्ष्य कराते हैं। जैसे लक्ष्यतक बन्दूक नहीं पहुँचती, प्रत्युत गोली पहुँचती है, ऐसे ही परमात्मातक शब्द (वर्णन) नहीं पहुँचता, प्रत्युत परमात्माका उद्देश्य होनेसे साधकका भाव परमात्मातक पहुँचता है। परंतु यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं बैठता; क्योंकि वास्तवमें साधकका भाव परमात्मातक नहीं पहुँचता, प्रत्युत केवल उसका भ्रम, वहम—अज्ञान मिटता है, जिससे उसको अपनेमें ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। तात्पर्य है कि शब्द परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं कराता, प्रत्युत उसकी अप्राप्तिका वहम मिटाता है।

शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है। जब मनुष्य सोता है, तब इन्द्रियाँ

मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अविद्या (अज्ञान) में लीन हो जाती है। परंतु जब सोये हुए मनुष्यका नाम लेकर उसको पुकारा जाता है, तब वह जग जाता है। अत: शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह अविद्यामें लीन हुई श्रवणेन्द्रियतक भी पहुँच जाता है और मनुष्यको जगा देता है *! अन्य इन्द्रियोंमें तो अपने-अपने अपरोक्ष विषयका ज्ञान करानेकी ही शक्ति है, पर श्रवणेन्द्रियमें अपरोक्ष विषयका ज्ञान करानेके साथ-साथ परोक्ष विषयका भी ज्ञान करानेकी शक्ति है। तात्पर्य है कि जिस विषयका हम त्वचासे स्पर्श नहीं कर सकते, नेत्रोंसे देख नहीं सकते, जीभसे चख नहीं सकते और नाकसे सूँघ नहीं सकते, उस विषयको भी हम कानोंसे सुनकर जान सकते हैं। इसलिये सब साधनोंमें 'श्रवण' की मुख्यता है। कानोंसे सुनकर ही उसके अनुसार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका अनुष्ठान करनेसे हम परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं। यद्यपि नेत्रोंसे शास्त्रको पढ़कर भी परोक्ष विषयका ज्ञान होता है, तथापि शब्दका ही लिखितरूप होनेसे वह भी मूलमें शब्दकी शक्ति ही है। शास्त्रज्ञान भी जैसा अनुभवी पुरुषसे सुनकर होता है, वैसा केवल पढ़नेसे नहीं होता†।

---

* शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्षधी:।
प्रसुप्त: पुरुषो यद्वत् शब्देनैवावबुध्यते॥ (सदाचारानुसंधानम् १९)

'शब्दमें अचिन्त्य शक्ति होनेके कारण जैसे सोया हुआ मनुष्य शब्दमात्रसे जग जाता है, ऐसे ही परमात्मतत्त्व भी शब्दमात्रसे प्रत्यक्ष हो जाता है।'

निर्बलत्वात् अविद्याया आत्मत्वात् बोधरूपिण:।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विद्मस्तं मोहहानत:॥

'अविद्याके दुर्बल होनेसे और आत्माके बोधस्वरूप होनेसे एवं शब्दमें अचिन्त्य शक्ति होनेसे मोह नष्ट होनेपर हम परमात्मतत्त्वको जान लेते हैं।'

† वचन आगले सन्तका, हरिया हस्ती दन्त।
ताख न टूटे भरमका, सैंधे ही बिनु सन्त॥

एक तो शब्दकी शक्ति है और एक अनुभवकी शक्ति है। अनुभवरहित शब्द तो केवल बारूदसे भरी बन्दूकके समान है, जो केवल आवाज करके शान्त हो जाती है, पर अनुभवयुक्त शब्द गोलीसे भरी बन्दूकके समान है, जो आवाजके साथ-साथ चोट भी करती है। इसलिये अनुभवी-सन्तकी वाणीका श्रोतापर जैसा असर पड़ता है, वैसा असर अनुभव न किये हुए पुरुषकी वाणीका नहीं पड़ता। शास्त्रमें भी आया है कि जिस वक्तामें निम्नलिखित चार दोष होते हैं, उसकी वाणीका दूसरोंपर असर नहीं पड़ता और वह वाणी वास्तविक तत्त्वका विवेचन भी नहीं कर सकती—

(१) **भ्रम**—वस्तु जैसी हो, वैसी न दीखकर और तरहकी दीखे—यह 'भ्रम' है। अगर वक्ताके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता और महत्ता होगी तो वह तत्त्वकी जो बात कहेगा, उसका दूसरोंपर असर नहीं पड़ेगा; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता और महत्ता अखण्डरूपसे रहती है। अतः उसकी बात सीखी हुई न होकर अनुभव की हुई होनी चाहिये। अगर उसको अपनी बातपर कोई सन्देह हो तो स्पष्टरूपसे कह देना चाहिये कि मैं इस विषयमें निःसंदिग्ध नहीं हूँ। छिपाव न करके स्पष्टरूपसे कही बातका दूसरोंपर असर पड़ता है।

(२) **प्रमाद**—असावधानी (बेपरवाह) को 'प्रमाद' कहते हैं। अगर वक्ता जो विषय जानता है, उसका तत्परतासे विवेचन नहीं करता, मन लगाकर ठीक तरहसे नहीं कहता, दूसरोंको समझानेमें उपेक्षा (बेपरवाह) करता है तो उसकी बातका दूसरोंपर असर नहीं पड़ता।

(३) **लिप्सा**—रुपये-पैसे, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, सुख-आराम आदि कुछ भी पानेकी इच्छाको 'लिप्सा' कहते हैं। अगर

वक्तामें लिप्सा होगी तो वह स्पष्ट बात नहीं कह सकेगा, प्रत्युत वही बात कहेगा, जिससे स्वार्थ सिद्ध हो। अगर उसको स्वार्थमें बाधा लगती दीखेगी तो वह सच्ची बातको भी छिपा लेगा।

(४) **करणापाटव**—करणोंमें पटुता, कुशलता न होनेको 'करणापाटव' कहते हैं। वक्ता जिन मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि करणोंसे अपने भाव प्रकट करता है, उनमें कुशलता नहीं है, वह श्रोताकी भाषाको नहीं जानता, श्रोताके भाव, योग्यता आदिको नहीं समझता, श्रोताको उसकी योग्यताके अनुसार समझानेके लिये वह दृष्टान्त, युक्ति आदि नहीं जानता तो उसकी बात दूसरोंकी समझमें नहीं आती और उसका असर भी नहीं पड़ता।

वाणीके इन चारों दोषोंसे रहित वक्ता बहुत दुर्लभ होता है। शास्त्रमें आया है—

शतेषु जायते शूरः सहस्त्रेषु च पण्डितः।
वक्ता शतसहस्त्रेषु दाता जायेत वा न वा॥

(व्यासस्मृति ४। ५८-५९; स्कन्दपुराण मा० कुमा० २। ७०)

'सैकड़ों मनुष्योंमें कोई एक शूर पैदा होता है, हजारोंमें कोई एक पण्डित पैदा होता है, लाखोंमें कोई एक वक्ता पैदा होता है, दाता तो पैदा हो भी अथवा न भी हो!'

८. मुक्तिमें सबका समान अधिकार

मुक्ति अथवा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें खास बाधक है—अहंकार। जड़ प्रकृतिके कार्य शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेसे अहंकार अर्थात् देहाभिमान उत्पन्न होता है, अहंकारसे एकदेशीयता उत्पन्न होती है तथा एकदेशीयतासे फिर वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिको लेकर सैकड़ों-हजारों भेद उत्पन्न होते हैं; जैसे—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, आदि-आदि। तात्पर्य है कि सब भेद अहंकारसे ही पैदा होते हैं। जबतक अहंकार रहता है, तबतक भेदका नाश नहीं होता। जहाँ भेद है, वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ ज्ञान है, वहाँ भेद नहीं है। अतः मुक्ति अथवा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति अहंकार मिटनेसे ही होती है। इसलिये गीतामें जहाँ ज्ञानप्राप्तिके साधनोंका वर्णन आया है, वहाँ (साधनमें भी) अहंकारसे रहित होनेकी बात कही गयी है—'**अनहंकार एव च**' (१३। ८)। कारण कि ज्ञानप्राप्तिमें देहाभिमान मुख्य बाधा है—

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

'देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति कठिनतासे प्राप्त की जाती है।'

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७। ७४। ३)

अतः जो कहता है कि '**मैं ब्राह्मण हूँ**', '**मैं संन्यासी हूँ**' और जो कहता है कि '**मैं अन्त्यज हूँ**', '**मैं गृहस्थ हूँ**', उन दोनोंके

देहाभिमानमें क्या फर्क हुआ? देहाभिमानकी दृष्टिसे दोनों ही समान हैं। देहका अध्यास ही ब्राह्मण, संन्यासी आदि है और देहका अध्यास ही अन्त्यज, गृहस्थ आदि है। वास्तवमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न ब्राह्मणको होती है, न क्षत्रियको होती है, न वैश्यको होती है, न शूद्रको होती है, न ब्रह्मचारीको होती है, न गृहस्थको होती है, न वानप्रस्थको होती है, न संन्यासीको होती है, प्रत्युत जिज्ञासुको होती है। तात्पर्य है कि जो तीव्र जिज्ञासु होता है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नहीं होता—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

(हस्तामलकस्तोत्र)

संतो, अब हम आपा चीन्हा।
निज स्वरूप प्राप्त है नित ही, अचरज सहित स कीन्हा॥
ना हम मानुष देवता नाहीं, ना गिरही वनखण्डी।
ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यहु नाहीं, ना हम शूद्र न दण्डी॥
ना हम ज्ञानी चतुर न मूरख, ना हम पण्डित पोथी।
ना हम सागर न मरजीवा, ना हम सीप न मोती॥
ना हम स्वर्गलोक को जाते, ना हम नरक सिधारे।
हम सब रूप सबन ते न्यारा, ना जीता ना हारे॥
ना हम अमर मरे ना कबहूँ, कबीर ज्यों-का-त्यों ही।
व्यास कपिल मुनि वामदेव ऋषि, सबका अनुभव यों ही॥

अतः जिज्ञासुमें न तो वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका अभिमान होना चाहिये, न इनका आग्रह होना चाहिये और न दूसरे

वर्ण, आश्रम आदिके प्रति ऊँच-नीचका भाव ही होना चाहिये। वर्ण, आश्रम आदिका भेद मनुष्योंकी मर्यादाके लिये है, और मर्यादा संसारके संचालनके लिये है। परंतु मुक्तिके लिये वर्ण, आश्रम आदिका भेद आवश्यक नहीं है। कारण कि मुक्ति शरीरकी नहीं होती, प्रत्युत स्वयंकी होती है जो कि मुक्तस्वरूप ही है। वर्ण-आश्रमका भेद शरीरको लेकर है। जब शरीर अपना स्वरूप है ही नहीं, तो फिर वर्ण-आश्रमका भेद अपना स्वरूप कैसे?

तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद।
आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना॥

(नारदपरिव्राजक० ६। १४)

'नारद! सभी वर्ण और आश्रम अन्यगत (शरीरगत) होनेपर भी भ्रान्तिवश आत्मामें आरोपित कर लिये जाते हैं; परंतु आत्मवेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करते।'

इसलिये मुक्ति होनेपर स्वयंका शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, शरीरका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता अर्थात् स्वयं शरीरसे असंग (अलग) होता है, शरीर संसारसे असंग नहीं होता। कारण कि प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरका सम्बन्ध संसारसे है, स्वयंसे नहीं।

वर्ण-आश्रमकी मान्यता केवल स्वाँगके लिये है। हमारा स्वरूप ब्राह्मण आदि नहीं है। जैसे नाटकमें लक्ष्मण बना हुआ व्यक्ति बाहरसे अपने स्वाँगका ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरसे अपनेको लक्ष्मण नहीं मानता। उसके भीतर निरन्तर यह भाव रहता है कि यह तो स्वाँग है, वास्तवमें मैं लक्ष्मण हूँ ही नहीं। ऐसे ही बाहरसे अपने वर्ण-आश्रमका शास्त्र और लोक-मर्यादाके अनुसार ठीक तरहसे पालन करते हुए भी भीतरमें यह

भाव रहना चाहिये कि मैं तो भगवान्‌का अंश हूँ!

जो जिस वर्ण-आश्रमका हो, उस वर्ण-आश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका ठीक तरहसे पालन करे और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करे तो उसकी अहंता सुगमतापूर्वक छूट जायगी। अगर वह विहितके साथ-साथ निषिद्ध काम भी करता रहेगा तो उसकी अहंता छूटेगी नहीं। निषिद्धके त्यागपर इतना जोर रहना चाहिये कि भूलसे भी मन उस तरफ न जाय। जैसे, राजा दुष्यन्तका मन शकुन्तलाकी तरफ चला गया तो उनको दृढ़ विश्वास हो गया कि यह ब्राह्मण-कन्या नहीं है, प्रत्युत क्षत्रिय-कन्या ही है। कारण कि अगर यह ब्राह्मण-कन्या होती तो मेरा मन उसकी तरफ जाता ही नहीं!

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

(अभिज्ञान० १। २१)

'इसमें संदेह नहीं कि यह क्षत्रियद्वारा ग्रहण करनेयोग्य है, जिससे मेरा विशुद्ध मन भी इसको चाहता है; क्योंकि जहाँ सन्देह हो, वहाँ सत्पुरुषोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है।'

यही बात भगवान् रामके विषयमें भी आती है। उनका मन सीताजीकी तरफ गया तो वे समझ गये कि यह परनारी नहीं है; क्योंकि मेरा सम्बन्ध इसीके साथ होना है—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

(मानस १। २३१। ३)

जो अपनेको किसी एक वर्ण और आश्रमका मानते हैं, वे शास्त्रीय विधि-निषेधके अधिकारी होते हैं। यदि वे निषिद्धका

त्याग करके विहित (अपने कर्तव्य) का पालन करें तो उनकी उन्नति अवश्य होगी। यदि वे निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करें और अपनी अहंताको बदल दें कि मैं किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ, प्रत्युत केवल योगी, जिज्ञासु अथवा भक्त हूँ, तो वे मुक्तिके अधिकारी हो जायँगे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंकी रचना प्रकृतिजन्य गुणोंके अनुसार होती है; जैसे—सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मणकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रियकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा तमोगुणकी गौणतासे वैश्यकी और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी रचना की गयी है। जिसमें ब्राह्मणत्वका अभिमान और आग्रह है, उसकी स्थिति गुणोंमें होनेसे गुणोंके अनुसार ही उसकी ऊँच-नीच गति होगी, पर मुक्ति नहीं होगी—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंके अभिमानवाला गुणातीत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। गुणातीत होनेपर वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह नहीं रह सकता। अतः अपने वर्ण-आश्रमका अभिमान और आग्रह छोड़कर बाहरसे वर्ण-आश्रमकी मर्यादाका पालन करना और भीतरसे 'मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ, किसी वर्ण-आश्रमका नहीं हूँ'—ऐसा भाव रखना बहुत आवश्यक है।

जब साधकका उद्देश्य एकमात्र परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब वह अपनेको केवल योगी, केवल जिज्ञासु अथवा केवल भक्त मानता है। ऐसा माननेसे ही वह सच्चा साधक होता है और उसके द्वारा निरन्तर साधन होता है। अगर वह अपनेको साधक माननेके साथ-साथ 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध

हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ' आदि भी मानेगा तो उसके साधनमें अदृढ़ता (कमी) रहेगी, जो कि उसके कल्याणमें बाधक होगी। उसको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तल्लीन हो जाय कि साधक न रहे, साधनमात्र रह जाय अर्थात् योगी न रहे, योगमात्र रह जाय; जिज्ञासु न रहे, जिज्ञासामात्र रह जाय; भक्त न रहे, भक्तिमात्र रह जाय। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यसे एक हो जाता है अर्थात् साध्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

शास्त्रमें ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वर्ण और आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है; जैसे—

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो यस्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र॥

(महा० शान्ति० ३१८। ९२)

'नरेन्द्र! सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः ब्राह्मण हो अथवा दूसरे किसी वर्णका हो, जो मनुष्य ज्ञानमें स्थित है, उसके लिये मोक्ष नित्य प्राप्त है।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८। ४५)

'अपने-अपने कर्ममें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त कर लेता है।'

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य

सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तात्पर्य है कि जिस पदको ब्राह्मण अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त करता है, उसी पदको शूद्र भी अपने कर्तव्यका पालन करके प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, तीव्र जिज्ञासा होनेपर पापी-से-पापी मनुष्यको भी तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

भगवद्भक्तिके तो मात्र मनुष्य अधिकारी हैं—

आनिन्द्योन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्।

(शाण्डिल्य० ७८)

'जैसे दया, क्षमा आदि सामान्य धर्मोंके मात्र मनुष्य अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवद्भक्तिके नीची-से-नीची योनिसे लेकर ऊँची-से-ऊँची योनितक सब प्राणी अधिकारी हैं।'

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः।

(नारद० ७२)

'उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

(गीता ९। ३२-३३)

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय भगवान्‌के भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!'

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २। ४। १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि अधम जातिके लोग और इनके सिवाय अन्य पापीलोग भी शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस ३। ३५। ३)

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा श्रेष्ठ आचरण था? ध्रुवकी कौन-सी बड़ी उम्र थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन-सी ऊँची जाति थी? यदुपति उग्रसेनका कौन-सा पराक्रम था? कुब्जाका कौन-सा सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? फिर भी उन लोगोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी! कारण कि भगवान्‌को केवल भक्ति ही प्यारी है। वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट

होते हैं, आचरण, विद्या आदि गुणोंसे नहीं।'

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥

(श्रीमद्भा० ७। ७। ५१-५२, ५४)

'दैत्यबालको! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये केवल ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बनामात्र है! भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, गोपालक, अहीर, पक्षी, मृग और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो गये हैं।'

इतना ही नहीं, पापी-से-पापी मनुष्य भी भक्तिका अधिकारी हो सकता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि

उसने निश्चय बहुत श्रेष्ठ और अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीवमात्रमें भगवान्‌की तरफ चलनेका, भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार, स्वतन्त्रता और सामर्थ्य स्वतः है। प्रत्येक जीव स्वरूपसे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप है—'**अयमात्मा ब्रह्म**', '**तत्त्वमसि**'। अतः जीवमात्र स्वरूप-बोधमें अधिकारी, स्वतन्त्र और समर्थ है।

वर्ण, आश्रम आदिको लेकर ऐसा मानना कि अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी है और अमुक वर्ण अथवा आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं है—यह शास्त्र और युक्तिसंगत नहीं दीखता। उत्थान और पतन प्रत्येक वर्ण-आश्रममें हो सकता है। प्रत्येक वर्ण-आश्रमका मनुष्य तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, वह तत्त्वज्ञान देनेका अधिकारी भी हो सकता है—

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्॥

(महा० शान्ति० ३१८। ८८)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए मनुष्यसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके मनुष्यको सदा उसपर श्रद्धा रखनी चाहिये। जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता।'

उदाहरणार्थ, वेदव्यासजीके पुत्र शुकदेवजी ज्ञानप्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये एक साथ छः ऋषि महाराज अश्वपतिके पास गये थे। इस प्रसंगमें शंकराचार्यजी महाराजके ये वचन ध्यान देनेयोग्य हैं—

'यत एवं महाशाला महाश्रोत्रिया ब्राह्मणाः सन्तो महाशालत्वाद्यभिमानं हित्वा समिद्धारहस्ता जातितो हीनं राजानं विद्यार्थिनो विनयेनोपजग्मुः' (छान्दोग्य० ५। ११। ७ का भाष्य)।

'इस प्रकार महागृहस्थ और परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होनेपर भी वे महागृहस्थत्व आदिके अभिमानको छोड़कर, हाथोंमें समिधाएँ लेकर तथा विद्यार्थी बनकर अपनेसे हीन जातिवाले राजाके पास विनयपूर्वक गये थे। इसलिये ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेकी इच्छावाले अन्य पुरुषोंको भी ऐसा ही होना चाहिये।'

नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी विदुर, कबीर, रैदास, सदन कसाई, धर्मव्याध आदि अनेक महापुरुष जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी माने जाते हैं और ऊँच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी रावण आदि अनेक पापी हो गये हैं। गार्गी, देवहूति, शबरी, कुन्ती, व्रजगोपियाँ, मीराबाई आदि स्त्री-जातिकी थीं। समाधि, तुलाधार आदि वैश्य थे। विदुर, सञ्जय, निषादराज गुह आदि शूद्र थे। प्रह्लाद, विभीषण आदि असुर तथा वृत्रासुर आदि राक्षस थे। गजेन्द्र, जटायु, कपोत-कपोती आदि पशु-पक्षी थे। इन सबमें जो भी विलक्षणता, विशेषता थी, वह किसी वर्ण, आश्रम आदिको लेकर नहीं थी, प्रत्युत भगवान्‌के सम्बन्धको लेकर थी*।

* सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ॥

भगवान्‌का सम्बन्ध स्वरूपके साथ है, शरीरके साथ नहीं। ऊँचे वर्ण-आश्रमवाला मनुष्य भी अगर भगवान्‌से विमुख है, उसके भाव और आचरण शुद्ध नहीं हैं तो उसका महान् पतन हो सकता है; जैसे—

यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम्।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

(वायुपुराण)

'जो संन्यास-आश्रममें जानेके बाद पुनः स्त्रीसंग करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।'

एक नीतिशास्त्र होता है, एक धर्मशास्त्र होता है और एक मोक्षशास्त्र होता है। नीतिशास्त्रमें स्वार्थसिद्धि है, धर्मशास्त्रमें विधि-निषेध है और मोक्षशास्त्रमें सत्-असत्‌का विवेक है।

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥

(श्रीमद्भा० ११। १२। ३—७)

भगवान् बोले—'हे निष्पाप उद्धवजी! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है। सत्संग (मेरे सम्बन्ध) के द्वारा दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है। मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है। वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्संगके प्रभावसे मुझे प्राप्त हुए हैं। उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत तथा कोई तपस्या भी नहीं की थीं। बस, केवल सत्संग, अर्थात् मेरे सम्बन्धके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

नीतिसे धर्म और धर्मसे मोक्षशास्त्र बलवान् होता है। वर्ण-आश्रमकी व्यवस्था धर्मशास्त्रमें है, मोक्षशास्त्रमें नहीं। वर्ण, आश्रम आदि सब भेद असत्‌के हैं। सत्‌का कोई भेद नहीं है—'**नेह नानास्ति किञ्चन**' (कठ० २। १। ११, बृहदा० ४। ४। १९), '**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १)। जहाँ सत्-असत्‌का विवेक होगा, वहाँ तो असत्‌का त्याग ही मुख्य रहेगा*। अतः चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे शूद्रका शरीर हो, लोक-व्यवहारमें तो उनमें फर्क रहेगा, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कोई फर्क रहेगा ही नहीं। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर होती है। जिससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, वह चाहे बढ़िया हो या घटिया, उससे क्या मतलब?

कर्मोंके अनुसार जीव नीच योनिसे क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण भी बन सकता है और क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा नीच योनिमें भी जा सकता है। ऊँच-नीचका यह क्रम (गति) कर्मानुसार फलभोगके लिये ही है। मुक्तिमें ऐसा कोई क्रम नहीं है। अतः शास्त्रमें कहीं किसी एक वर्ण-आश्रमको प्राप्त होकर मुक्तिका अधिकारी होनेकी बात आयी है तो वह कोई सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत वह व्यक्ति-विशेषके लिये ही कही गयी बात है। इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि किसने किस परिस्थितिमें किया और क्यों किया तथा किस परिस्थितिमें कुछ कहा और क्यों कहा—इसका

---

* सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस ७। ४१)

'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥'

(श्रीमद्भा० ११। १९। ४५)

पूरा पता चलता नहीं! अतः इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्ग-दर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय विधि-निषेधसे ही होता है। इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है। अतः यों करें अथवा यों करें—इस विषयमें इतिहासको प्रमाण न मानकर शास्त्रके विधि-निषेधको ही प्रमाण मानना चाहिये।

कलियुगमें ठीक विधि-विधानसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ-आश्रमका पालन करके संन्यास-आश्रममें जाना तथा संन्यास-आश्रमके नियमोंका पालन करना बहुत कठिन है। इसलिये शास्त्रमें संन्यासको कलिवर्ज्य (कलियुगमें वर्जित) माना गया है*। अगर ऐसा मानें कि संन्यासी हुए बिना मनुष्य कल्याण (मोक्ष) का अधिकारी नहीं हो सकता तो फिर कलियुगमें किसीका कल्याण होगा ही नहीं, जब कि कलियुगमें अन्य युगोंकी अपेक्षा कल्याण होना बहुत सुगम बताया गया है!†

विष्णुपुराणमें एक कथा आती है। एक बार अनेक ऋषि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये वेदव्यासजी महाराजके

---

* अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्॥
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्।
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण० ११५। ११२-११३)

† यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
(विष्णुपुराण ६। २। १५)

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
(मानस ७। १०३ क)

पास गये। वेदव्यासजीने आदर-सत्कारपूर्वक उन सबको बैठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये। स्नान करते हुए उन्होंने कहा कि 'कलियुग, तुम धन्य हो! शूद्रो, तुम धन्य हो! स्त्रियो, तुम धन्य हो!'* जब वे स्नान करके वापिस आये, तब ऋषियोंने उनसे कहा कि महाराज! आपने कलियुगको, शूद्रोंको और स्त्रियोंको धन्यवाद क्यों दिया?—यह हमारी समझमें नहीं आया! वेदव्यासजीने कहा कि कलियुगमें अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेसे शूद्रों और स्त्रियोंका कल्याण जल्दी और सुगमतासे हो जाता है, इसलिये ये तीनों धन्यवादके पात्र हैं।

जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये धर्मपालन भी उतना ही कठिन होता है और नीचे गिरनेपर चोट भी उतनी ही अधिक लगती है! ऊँचा कहलानेके कारण देहाभिमान भी अधिक होता है; अतः कल्याण भी कठिनतासे होता है—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जातिके अभिमान से, डूबे सभी कुलीन॥
जात नहीं जगदीश के, जन के कैसे होय।
जात पाँत कुल कीच में, बंध मरो मत कोय॥

तात्पर्य यह हुआ कि लौकिक व्यवहार (भोजन, विवाह

---

* मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रस्साधुः कलिस्साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
तेषां मुनीनां भूयश्च ममज्ज स नदीजले।
साधु साध्विति चोत्थाय शूद्र धन्योऽसि चाब्रवीत्॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥

(विष्णुपुराण ६। २। ६—८)

आदि) में तो जातिकी, वर्ण-आश्रमकी ही प्रधानता है, पर भगवत्प्राप्तिमें भाव और विवेककी प्रधानता है। अतः ऊँचे वर्ण, आश्रम आदिसे संसारमें अधिकार मिल सकता है, पर भगवान्‌को प्राप्त करनेका अधिकार केवल भगवान्‌के सम्बन्धसे ही मिलता है। जैसे सब-के-सब बालक माँकी गोदीमें जानेके समान अधिकारी हैं, ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे सब-के-सब जीव भगवान्‌को प्राप्त होनेके समान अधिकारी हैं। जीवमात्रका भगवान्‌पर पूरा अधिकार है। अतः भगवत्प्राप्तिके लिये किसी भी मनुष्यको कभी निराश नहीं होना चाहिये। सब-के-सब मनुष्य परमात्मतत्त्वको, मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, कैवल्यको, भगवत्प्रेमको, भगवद्दर्शनको* प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ 'वज्रसूची' नामक उपनिषद् दी जा रही है। मुक्तिक-उपनिषद्‌में जहाँ एक सौ आठ उपनिषदोंके नाम दिये गये हैं, वहाँ इस उपनिषद्‌का भी नाम आया है।†

---

* भगवान्‌को अपना माननेका सबको अधिकार है। अनन्यभावसे भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है।

† ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः।
गर्भो नारायणो हंसो बिन्दुर्नादशिरः शिखा॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम्।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम्।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम्॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम्।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा॥

वज्रसूचिकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां

तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम्॥
त्रिपुरातपनं देवी त्रिपुरा कठभावना।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम्॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम्॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम्।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ॥
एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम्।
ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम्॥

(मुक्तिकोपनिषद्)

१. 'ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डूक्य, ७. तैत्तिरीय, ८. ऐतरेय, ९. छान्दोग्य, १०. बृहदारण्यक, ११. ब्रह्म, १२. कैवल्य, १३. जाबाल, १४. श्वेताश्वतर, १५. हंस, १६. आरुणिक, १७. गर्भ, १८. नारायण, १९. परमहंस, २०. अमृतबिन्दु, २१. अमृतनाद, २२.अथर्वशिरस्, २३.अथर्वशिखा, २४. मैत्रायणी, २५. कौषीतकिब्राह्मण, २६. बृहज्जाबाल, २७. नृसिंहतापनीय, २८.कालाग्निरुद्र, २९. मैत्रेयी, ३०.सुबाल, ३१. क्षुरिका, ३२. मन्त्रिका, ३३. सर्वसार, ३४. निरालम्ब, ३५. शुकरहस्य, ३६. वज्रसूचिका, ३७. तेजोबिन्दु, ३८. नादबिन्दु, ३९. ध्यानबिन्दु, ४०. ब्रह्मविद्या, ४१. योगतत्त्व, ४२. आत्मप्रबोध, ४३. नारदपरिव्राजक, ४४. त्रिशिखिब्राह्मण, ४५. सीता, ४६. योगचूड़ामणि, ४७. निर्वाण, ४८. मण्डलब्राह्मण, ४९. दक्षिणामूर्ति, ५०. शरभ, ५१. स्कन्द, ५२. त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, ५३. अद्वयतारक, ५४. रामरहस्य, ५५. रामतापनीय, ५६. वासुदेव, ५७. मुद्गल, ५८. शाण्डिल्य, ५९. पैंगल, ६०. भिक्षुक, ६१. महत्, ६२. शारीरक, ६३. योगशिखा, ६४. तुरीयातीत, ६५. संन्यास, ६६. परमहंसपरिव्राजक, ६७. अक्षमाला, ६८. अव्यक्त, ६९. एकाक्षर, ७०. अन्नपूर्णा, ७१. सूर्य, ७२. अक्षि, ७३. अध्यात्म, ७४. कुण्डिका, ७५. सावित्री, ७६. आत्मा,

मा मा ब्रह्म निराकरोत् अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

'हे परब्रह्म परमात्मन्! मेरे सम्पूर्ण अंग, वाणी, प्राण, नेत्र, कान और सब इन्द्रियाँ तथा शक्तिं परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्-प्रतिपादित ब्रह्म है,उसको मैं अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म मेरा परित्याग न करे। उसके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध हो और मेरे साथ उसका अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदोंमें प्रतिपादित जो धर्मसमूह हैं, वे सब उस परमात्मामें लगे हुए मुझमें हों, वे सब मुझमें हों। हे परमात्मन्! त्रिविध तापोंकी शान्ति हो।'

चित्सदानन्दरूपाय सर्वधीवृत्तिसाक्षिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय ब्रह्मणेऽनन्तरूपिणे॥

'सच्चिदानन्दस्वरूप, सबकी बुद्धिका साक्षी, वेदान्तके द्वारा जाननेयोग्य और अनन्त रूपोंवाले ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ।'

---

७७. पाशुपत, ७८. परब्रह्म, ७९. अवधूत, ८०. त्रिपुरातापनीय, ८१. देवी, ८२. त्रिपुरा, ८३. कठरुद्र, ८४. भावना, ८५. रुद्रहृदय, ८६. योगकुण्डली, ८७. भस्मजाबाल, ८८. रुद्राक्षजाबाल, ८९. गणपति, ९०. जाबालदर्शन, ९१.तारसार, ९२. महावाक्य, ९३. पञ्चब्रह्म, ९४. प्राणाग्निहोत्र, ९५. गोपालतापनीय, ९६. कृष्ण, ९७. याज्ञवल्क्य, ९८. वराह, ९९. शाट्यायनीय, १००. हयग्रीव, १०१. दत्तात्रेय, १०२. गरुड़, १०३. कलिसंतरण, १०४. जाबालि, १०५. सौभाग्यलक्ष्मी, १०६. सरस्वतीरहस्य, १०७. बह्वृच, १०८. मुक्तिकोपनिषद्—ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्यके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश करती हैं। इनके पाठ और स्वाध्यायसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है तथा लोकवासना, शास्त्रवासना एवं देहवासनारूप त्रिविध वासनाओंका नाश होता है।

ॐ वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम्॥

'अब मैं अज्ञानका नाश करनेवाला 'वज्रसूची' नामक शास्त्र कहता हूँ, जो अज्ञानियोंके लिये दूषणरूप और ज्ञानचक्षुवालोंके लिये भूषणरूप है।'

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। उन वर्णोंमें ब्राह्मण मुख्य है, ऐसा वेदोंमें तथा स्मृतियोंमें भी कहा गया है। उस विषयमें यह शंका उत्पन्न होती है कि ब्राह्मण नाम किसका है? क्या जीव ब्राह्मण है? क्या देह ब्राह्मण है? क्या जाति ब्राह्मण है? क्या ज्ञान ब्राह्मण है? क्या कर्म ब्राह्मण है? अथवा क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है?'

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वादेकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति॥

'जीव ब्राह्मण है—ऐसा नहीं हो सकता। कारण कि पहले हुए और आगे होनेवाले अनेक शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है। जीव एक होनेपर भी कर्मोंके कारण अनेक शरीरोंको धारण करता है; परंतु सब शरीरोंमें जीव एकरूप ही रहता है (इसलिये यदि जीवको ब्राह्मण मानें तो फिर सभी शरीरोंको ब्राह्मण मानना पड़ेगा)।'

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादि-साम्यदर्शनाद्ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसम्भवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति।

'तो क्या देह ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। चाण्डालसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सबके शरीर पाञ्चभौतिक होनेसे एकरूप ही हैं। जरा-मृत्यु, धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) आदि भी सबके समान ही देखे जाते हैं। ब्राह्मणका श्वेतवर्ण, क्षत्रियका लाल वर्ण, वैश्यका पीला वर्ण और शूद्रका काला वर्ण होता है—ऐसा नियम भी नहीं है। यदि देहको ब्राह्मण मानें तो पिता आदिके मृत शरीरको जलानेसे पुत्र आदिको ब्रह्महत्या आदि पाप लगनेकी सम्भावना रहती है। अतः देह ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तर-जन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यकायाम्, शशपृष्ठाद् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति॥

'तो क्या जाति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। विभिन्न जातिवाले प्राणियोंसे अनेक जातिवाले बहुत-से महर्षि उत्पन्न हुए हैं; जैसे —मृगीसे ऋष्यशृंग, कुशसे कौशिक, जम्बूक

(सियार) से जाम्बूक, वल्मीकसे वाल्मीकि, मल्लाहकी कन्यासे व्यास, शशपृष्ठ (खरगोशकी पीठ) से गौतम, उर्वशीसे वसिष्ठ, कलश (घट) से अगस्त्य उत्पन्न हुए—ऐसा सुना जाता है। इनमें जातिके बिना भी पहले बहुत-से पूर्ण ज्ञानवान् ऋषि हुए हैं। अतः जाति ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति॥

'तो क्या ज्ञान ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बहुत-से (जनक, अश्वपति आदि) क्षत्रिय आदि भी परमार्थको जाननेवाले तत्त्वज्ञ हुए हैं। अतः ज्ञान ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसञ्चितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति॥

'तो क्या कर्म ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण प्राणियोंमें प्रारब्ध, संचित तथा क्रियमाण कर्मोंमें सधर्मता देखी जाती है और कर्मोंसे प्रेरित होकर वे मनुष्य क्रिया करते हैं। अतः कर्म ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति॥

'तो क्या धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण है? नहीं, ऐसा भी नहीं हो सकता। बहुत-से क्षत्रिय आदि भी स्वर्णका दान करनेवाले हुए हैं। अतः धार्मिक व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है।'

तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्य-

ज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेष-भूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्द-स्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलक-वत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नभावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादि-भिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एवं ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्व-सिद्धिर्नास्त्येव।

'तो फिर ब्राह्मण नाम किसका है? जो कोई अद्वितीय आत्मा जाति, गुण तथा क्रियासे रहित है, छः ऊर्मियों तथा छः विकारों* आदि समस्त दोषोंसे रहित है, सत्-चित्-आनन्द तथा अनन्तस्वरूप है, स्वयं निर्विकल्प है, अनन्त कल्पोंका आधार है, अनन्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहनेवाला है, सदा वर्तमान (नित्य रहनेवाला) है, आकाशकी तरह सबके भीतर-बाहर परिपूर्ण है, अखण्ड आनन्द स्वभाववाला है, अप्रमेय है अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है, केवल अनुभवसे जाननेयोग्य है तथा अपरोक्षरूपसे प्रकाशित होनेवाला है, उस परमात्मतत्त्वका हस्तामलककी तरह साक्षात्कार करके जो कृतकृत्य (ज्ञातज्ञातव्य, प्राप्तप्राप्तव्य) हो गया है और जो काम, राग आदि दोषोंसे रहित है; शम, दम आदिसे सम्पन्न भाववाला है; मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदिसे रहित है; और जिसका चित्त दम्भ, अहंकार आदि दोषोंसे निर्लिप्त है,

* भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म तथा मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं। उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना—ये छः विकार हैं।

वही वास्तविक ब्राह्मण है—ऐसा श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहासका अभिप्राय है। इसके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारसे ब्राह्मणत्वकी सिद्धि नहीं होती।'

सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्॥

'आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है (उसका साक्षात्कार करनेवाले ब्राह्मण हैं)—ऐसा मानना चाहिये। आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म मानना चाहिये। यह उपनिषद् है।'

॥ वज्रसूचिकोपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

'ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः
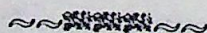
९. सभी भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं

मनुष्यमात्र परमात्मप्राप्तिका समानरूपसे अधिकारी है; क्योंकि मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि कोई क्यों न हो, मात्र मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता केवल परमात्मप्राप्तिकी उत्कट लालसाकी है। परन्तु जबतक सत्संग नहीं मिलता अथवा कोई आफत नहीं आती, तबतक मनुष्य मानो बेहोशीमें रहता है! उसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी लालसा जाग्रत् नहीं होती! ऐसे भी कई लोग हैं, जो यह मानते हैं कि शास्त्रोंका अध्ययन करना, पारमार्थिक पुस्तकें पढ़ना, पूजा-पाठ करना, साधन-भजन करना तो ब्राह्मणोंका अथवा साधुओंका काम है, हमारा काम नहीं है! ऐसे लोग परमात्मप्राप्तिके अधिकारी होते हुए भी परमात्माकी प्राप्तिको, उसकी आवश्यकताको नहीं समझ पाते।

परमात्माका सम्बन्ध जीवमात्रके साथ समान है। सभी जीव परमात्माके अंश हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी परमात्माके अंश हैं, पर उनमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता, अधिकार, सामर्थ्य और स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु मनुष्यशरीरमें परमात्मप्राप्तिकी योग्यता भी है, अधिकार भी है, सामर्थ्य भी है और स्वतन्त्रता भी है; क्योंकि मनुष्य बननेका उद्देश्य भी यही है। इसलिये जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी लालसा है, वह चाहे पापी-से-पापी हो या पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा, निम्न-से-निम्न हो या ऊँच-से-ऊँच, वह परमात्मप्राप्तिका अधिकारी हो जायगा! अतः

परमात्मप्राप्तिके विषयमें कभी किसीको निराश नहीं होना चाहिये। परन्तु कोई परमात्माकी प्राप्ति चाहे ही नहीं, उसको परमात्मा कैसे मिलेंगे? जो चाहता है, उसीको परमात्मा मिलते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। १०) 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'

एक मार्मिक बात है कि परमात्माकी प्राप्ति ब्राह्मणको नहीं होती, क्षत्रियको नहीं होती, वैश्यको नहीं होती, शूद्रको नहीं होती, ब्रह्मचारीको नहीं होती, गृहस्थको नहीं होती, साधुको नहीं होती, वानप्रस्थको नहीं होती, भाइयोंको नहीं होती, बहनोंको नहीं होती, पापीको नहीं होती, पुण्यात्माको नहीं होती! तो फिर किसको होती है? 'साधक' को होती है। तात्पर्य है कि जो केवल परमात्मप्राप्तिकी इच्छा रखते हैं, उनको ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। वर्ण, आश्रम, योग्यता, पद, अधिकार आदिका सम्बन्ध असत्का सम्बन्ध है। असत्का सम्बन्ध रखते हुए सत्की प्राप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। इसलिये ब्राह्मण होनेके नाते अथवा साधु होनेके नाते कोई परमात्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाय—यह बात है ही नहीं। जिसके भीतर ब्राह्मणपनेका, साधुपनेका अभिमान नहीं है और जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी जोरदार लालसा है, वही परमात्मप्राप्तिका अधिकारी है। जिसके भीतर परमात्मप्राप्तिकी अनन्य अभिलाषा नहीं है, वह ब्राह्मण अथवा साधु ही क्यों न हो, उसको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। अपने वर्णका अभिमान होनेके कारण ही अपनेमें बड़प्पन अथवा छोटापन दीखता है कि मैं

तो ब्राह्मण हूँ अथवा मैं तो शूद्र हूँ! इसलिये परमात्मप्राप्तिके विषयमें अपनेको बड़ा मानना भी बाधक है और छोटा मानना भी बाधक है। साधकमें छोटे-बड़ेका अभिमान नहीं होना चाहिये, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिकी भूख होनी चाहिये। भोजन वही करता है, जो भूखा हो, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे शूद्र। ऐसे ही भगवत्प्राप्ति उसीको होती है, जिसमें जोरदार लालसा है।

शरीरसे संसारका काम अथवा सेवा तो हो सकती है, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्माकी प्राप्ति तो अपने-आपसे ही होती है और अपने-आपको ही होती है। शरीरकी प्रधानता व्यवहारमें है, परमार्थमें नहीं। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण सांसारिक व्यवहारके विषयमें हैं, परमात्मप्राप्तिके विषयमें नहीं। ब्राह्मण ब्राह्मणके साथ, क्षत्रिय क्षत्रियके साथ, वैश्य वैश्यके साथ और शूद्र शूद्रके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार करे तथा अपने वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्मका आचरण करे—इस विषयमें चारों वर्ण हैं। परन्तु परमात्मप्राप्तिमें ये वर्ण काम नहीं आते। परमात्मप्राप्तिके लिये तो 'मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ'—इस अहंताको ही मिटाना होगा और अनन्यभावसे 'मैं साधक (योगी, मुमुक्षु या भक्त) हूँ'—इसको स्वीकार करना होगा। अहंताको मिटाना क्या है? मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न साधु हूँ, न वानप्रस्थ हूँ, प्रत्युत मैं तो केवल भगवान्‌का हूँ।* तात्पर्य है कि हमारी

* नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

अहंताका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ होना चाहिये, वर्ण-आश्रम आदिके साथ नहीं, जिसके भीतर वर्ण-आश्रम आदिकी मुख्यता है और भगवत्सम्बन्धकी गौणता है, उसको परमात्मप्राप्ति नहीं होती। इसलिये परमात्माकी प्राप्ति तब होगी, जब हमारी अहंताका सम्बन्ध परमात्माके साथ होगा कि 'मैं तो भगवान्‌का ही हूँ'*। जैसे, पहले स्त्रीमें यह अहंता होती है कि 'मैं कुँआरी हूँ', पर विवाह होनेपर यह अहंता बदल जाती है और 'मैं सुहागन हूँ'—यह अहंता दृढ़ हो जाती है। इतनी दृढ़ हो जाती है कि अगर उसका पति मर भी जाय तो भी उसमें 'मैं कुँआरी हूँ'—यह अहंता पुनः नहीं होती! वह विधवा तो हो जाती है, पर कुँआरी नहीं होती। ऐसे ही साधकमें 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं साधु हूँ' आदि कोई भी अहंता नहीं रहती, और 'मैं परमात्माका हूँ'—यह अहंता दृढ़ हो जाती है। मैं परमात्माका हूँ—यह भाव दृढ़ होनेपर परमात्मप्राप्तिकी तत्परता, लगन, उत्कट लालसा स्वतः जाग्रत् हो जाती है। इसलिये जो परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं, वे अपनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष आदिका अभिमान न करें, प्रत्युत 'मैं तो भगवान्‌का हूँ'—ऐसा मानें। परमात्मप्राप्ति स्वयंको होती है, स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरको नहीं। शरीर चाहे ब्राह्मणका हो, चाहे अन्त्यजका हो, उससे तो सम्बन्ध-विच्छेद करना है।

---

* अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११। ११)

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा० ३)

मनुष्यमात्रका परमात्माके साथ अकाट्य सम्बन्ध है। मनुष्य चाहे स्वर्गमें जाय, चाहे नरकोंमें जाय, किसी भी योनिमें जाय, उसका परमात्मासे सम्बन्ध कभी टूटा नहीं, टूटेगा नहीं, टूट सकता नहीं। भगवान्का अंश भगवान्से अलग हो ही कैसे सकता है? परंतु असत्के साथ सम्बन्ध मान लेनेसे वह भगवान्का सम्बन्ध भूल गया। अगर वह अपना सम्बन्ध केवल भगवान्से मान ले और अनन्यभावसे उनको पानेकी इच्छा करे तो उसको भगवत्प्राप्ति हो जायगी। जो भगवान्को नहीं चाहता, उसको ऊँचा पद मिल जायगा, तत्त्वज्ञान मिल जायगा, सिद्धियाँ मिल जायँगी, पर भगवान् और उनका प्रेम नहीं मिलेगा। परन्तु जो केवल भगवान्को ही चाहता है, वह अगर बिलकुल अनपढ़ और गँवार हो, भेड़-बकरी चरानेवाला हो, निम्न वर्णका हो, निम्न जातिका हो तो भी उसको भगवान् मिल जायँगे। कारण कि भगवान्के ही अंश होनेके नाते सब-के-सब मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं।

'मनुष्य' नाम उसीका है, जो परमात्मप्राप्तिका जन्मजात अधिकारी हो! इसलिये सब-के-सब मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति शरीरके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत शरीरके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। इसलिये भीतरमें परमात्माकी चाहना होनी चाहिये, बाहरसे शरीर कैसा ही हो, चाहे स्त्रीका शरीर हो, चाहे पुरुषका शरीर हो, चाहे ब्राह्मणका शरीर हो, चाहे चमारका शरीर हो। कारण कि ऊपरका चोला तो बदलनेवाला है, पर भीतरका स्वरूप बदलनेवाला नहीं है। बदलनेवालेका सम्बन्ध बदलनेवाले-

(संसार) के साथ है और न बदलनेवालेका सम्बन्ध न बदलनेवाले-(परमात्मा) के साथ है। न बदलनेवालेके साथ बदलनेवालेका सम्बन्ध नहीं है और बदलनेवालेके साथ न बदलनेवालेका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये 'मेरेमें योग्यता कम है, मेरे पुण्य कम हैं, मैं स्वस्थ नहीं हूँ, मैं विद्वान् नहीं हूँ, मेरे आचरण अच्छे नहीं हैं' आदि बातोंको लेकर किसीको परमात्माकी प्राप्तिसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। अच्छे-बुरे आचरण तो पीछे हैं, पर परमात्माका अंश पहले है। शरीर पीछे है, परमात्माका अंश पहले है।

मनुष्यमात्रका भगवान्‌के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। उसमें किसी माध्यमकी जरूरत नहीं है। भगवान्‌ने किसी एक वर्ण, आश्रम आदिके मनुष्यको अपना अंश नहीं बताया है, प्रत्युत जीवमात्रको अपना अंश बताया है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये सब-के-सब मनुष्य परमात्मप्राप्तिके पूरे-के-पूरे अधिकारी हैं। जैसे, किसी माँके दस बालक हों तो बालकोंके लिये माँके दस हिस्से नहीं होते। दसों बालकोंके लिये माँ पूरी-की-पूरी है। एक-एक बालक पूरी माँको अपनी मान सकता है। कोई बालक ऐसा नहीं कहता कि माँका दसवाँ हिस्सा मेरा है अथवा इतनी माँ तो मेरी है, इतनी माँ तेरी है। ऐसे ही भगवान्‌के भी हिस्से नहीं होते। भगवान्‌के सब-के-सब अंश पूरे भगवान्‌की प्राप्तिके अधिकारी हैं। एक-एक मनुष्यके लिये भगवान् पूरे-के-पूरे हैं।

माँ किसी कारणको लेकर बालककी नहीं होती। क्या अनपढ़ और मूर्खकी माँ नहीं होती? क्या बीमारकी माँ नहीं

होती? क्या माँ केवल पढ़े-लिखे और स्वस्थकी ही होती है? माँपर सब बालकोंका समान हक होता है, पर वह किसी योग्यता, पद, अधिकार, विद्या आदिके नाते नहीं होता, प्रत्युत माँके नाते होता है कि 'मेरी माँ है'! इसी तरह भगवान् हमारे हैं। छोटा हो या बड़ा हो, अच्छा हो या मन्दा हो, दुराचारी हो या सदाचारी हो, ऊँचा हो या नीचा हो, समझदार हो या बेसमझ हो, भगवान् सबके हैं। माँमें तो पक्षपात हो सकता है, पर भगवान्‌में पक्षपात होना सम्भव ही नहीं है— **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९), *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० २६। २)। इसलिये हम कैसे ही हों, भगवत्प्राप्तिसे हमें कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है।
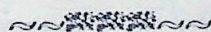
१०. अविनाशी रस

उपनिषद्‌में आया है—'रसो वै सः' (तैत्तिरीय० २। ७) 'वह परमात्मतत्त्व रसस्वरूप है।' तात्पर्य है कि रस वास्तवमें परमात्मतत्त्वमें ही है जो शान्त, अखण्ड तथा अनन्त है। उस परमात्मतत्त्वका ही अंश होनेसे जीवात्मामें भी वह रस स्वतःस्वाभाविक है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस ७। ११७। १)

परंतु शरीरसे सम्बन्धकी मान्यता मुख्य होनेके कारण जीवात्माको वह रस सांसारिक भोगोंमें, इन्द्रियोंके विषयोंमें दीखने लगता है अर्थात् उसकी भोगोंमें रसबुद्धि हो जाती है। भोगोंका यह रस नाशवान् होता है, जब कि परमात्माका रस अविनाशी होता है। अतः भोगोंका रस तो नीरसतामें बदल जाता है तथा उसका अन्त हो जाता है, पर परमात्माका रस नित्य-निरन्तर सरस रहता है तथा बढ़ता ही रहता है।

भोगोंके रसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—संयोग (सम्भोग) और वियोग (विप्रलम्भ)। इनमें संयोग-रसकी अपेक्षा वियोगरस श्रेष्ठ है; क्योंकि वियोगमें जो रस मिलता है, वह संयोगमें नहीं मिलता। जैसे, जबतक भोजन न मिले, तबतक 'भोजन मिलेगा'—इस (मिलनकी लालसा) में जो सुख मिलता है, वह भोजन मिलनेपर नहीं रहता, प्रत्युत प्रत्येक ग्रासमें क्षीण होते-होते अन्तमें सर्वथा मिट जाता है और भोजनसे अरुचि पैदा हो जाती है! परंतु परमात्माका रस इससे बहुत विलक्षण है। वह संयोग और

वियोग—दोनों ही अवस्थाओंमें समानरूपसे बढ़ता ही रहता है, न तो घटता है और न मिटता ही है!

भोगोंकी सत्ता और महत्ता माननेसे भीतरमें भोगोंके प्रति एक सूक्ष्म आकर्षण, प्रियता, मिठास पैदा होती है, उसका नाम 'रस' है। किसी लोभी व्यक्तिको रुपये मिल जायँ और कामी व्यक्तिको स्त्री मिल जाय तो भीतर-ही-भीतर एक खुशी आती है, यही 'रस' है। भोग भोगनेके बाद मनुष्य कहता है कि 'बड़ा मजा आया'—यह उस रसकी ही स्मृति है। यह रस अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) में रहता है। इसी रसका स्थूल रूप राग, सुखासक्ति है।

जबतक रसबुद्धि रहती है, तबतक प्रकृति और उसके कार्य (क्रिया और पदार्थ) की पराधीनता रहती है। रसबुद्धि निवृत्त होनेपर पराधीनता मिट जाती है, भोगोंके सुखकी परवशता नहीं रहती, भीतरसे भोगोंकी गुलामी नहीं रहती।

भोगोंके रसमें जननेन्द्रियका रस बड़ा प्रबल माना गया है। इसलिये कामको जीतना बड़ा कठिन होता है। संसारमें रुपयोंके विषयमें ईमानदार आदमी तो मिल सकते हैं, पर स्त्रीके विषयमें ईमानदार आदमी मिलना अपेक्षाकृत कठिन है। ईमानदार आदमी किसीके लाखों रुपये अपने पास सुरक्षित रख सकता है, पर किसीकी स्त्रीको अपने पास सुरक्षित रखना, विचलित न होना बहुत कठिन है। भर्तृहरिजी लिखते हैं—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरे॥

'जो वायु-भक्षण करके, जल पीकर और सूखे पत्ते खाकर रहते थे, वे विश्वामित्र, पराशर आदि भी सुन्दर स्त्रियोंके मुखको देखकर मोहको प्राप्त हो गये, फिर जो लोग शाली धान्य (सांठी चावल) को घी, दूध और दहीके साथ खाते हैं, वे यदि अपनी इन्द्रियका निग्रह कर सकें तो मानो विन्ध्याचल पर्वत समुद्रपर तैरने लगा!'

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

'इस पृथ्वीपर कुछ लोग तो मतवाले हाथीका मस्तक विदीर्ण करनेमें शूर हैं और कुछ लोग प्रचण्ड सिंहको मारनेमें दक्ष हैं। परंतु ऐसे बलवान् पुरुषोंके सामने मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूँ कि कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले पुरुष विरले ही हैं।'

ऐसी प्रबल जननेन्द्रियका रस भी रसबुद्धि निवृत्त होनेपर सर्वथा नष्ट हो जाता है! कारण कि काम कितना ही प्रबल क्यों न हो, है तो वह नाशवान् ही! कामको जीतना कठिन तो हो सकता है, पर असम्भव नहीं! कठिन भी उसीके लिये है, जिसने शरीरादि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी सत्ता और महत्ता मान रखी है। अगर साधक शरीरमें अपनी स्थिति मानेगा तो उसको काम सतायेगा ही। यदि वह स्वरूप (सत्तामात्र) में अपनी वास्तविक स्थितिको पहचान ले तो काम नष्ट हो जायगा, क्योंकि स्वरूप (सत्तामात्र) में काम, क्रोध आदि विकार नहीं हैं। कारण कि स्वरूपमें कोई कमी है ही नहीं, वह पूर्ण है, फिर उसमें काम कैसे आयेगा?

रसबुद्धिके रहते हुए जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब मनुष्यका चित्त पिघल जाता है तथा वह भोगोंके वशीभूत हो जाता है। परंतु रसबुद्धि निवृत्त होनेके बाद जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब तत्त्वज्ञ महापुरुषके चित्तमें किञ्चिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता। उसके भीतर ऐसी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, जिससे भोग उसको अपनी ओर खींच सकें। जैसे पशुके आगे रुपयोंकी थैली रख दें तो उसमें लोभवृत्ति पैदा नहीं होती और सुन्दर स्त्रीको देखकर उसमें काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। पशु तो रुपयोंको और स्त्रीको जानता नहीं, पर तत्त्वज्ञ महापुरुष रुपयोंको भी जानता है और स्त्रीको भी! जैसे हम अंगुलीसे शरीरके किसी अंगको खुजलाते हैं तो खुजली मिटनेपर अंगुलीमें कोई फर्क नहीं पड़ता, कोई विकृति नहीं आती, ऐसे ही इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन होनेपर भी तत्त्वज्ञके चित्तमें कोई विकार नहीं आता, वह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। कारण कि रसबुद्धि निवृत्त हो जानेसे वह अपने सुखके लिये किसी विषयमें प्रवृत्त होता ही नहीं। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हित और सुखके लिये ही होती है। अपने सुखके लिये किया गया विषयोंका चिन्तन भी पतन करनेवाला हो जाता है* और अपने सुखके लिये न किया

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले मनुष्यकी उन विषयोंमें आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्तिसे कामना पैदा होती है। कामनासे क्रोध पैदा होता है। क्रोध होनेपर सम्मोह (मूढ़भाव) हो जाता है। सम्मोहसे स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रष्ट होनेपर बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिका नाश होनेपर मनुष्यका पतन हो जाता है।'

गया विषयोंका सेवन भी मुक्ति देनेवाला हो जाता है*।

जबतक अन्तःकरणमें किञ्चिन्मात्र भी भोगोंकी सत्ता और महत्ता रहती है, भोगोंमें रसबुद्धि रहती है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस प्रकट नहीं होता। बाहरसे इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर अर्थात् भोगोंका त्याग करनेपर भी भीतरमें रसबुद्धि बनी रहती है। तत्त्वबोध होनेपर यह रसबुद्धि सूख जाती है, निवृत्त हो जाती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

'निराहारी† (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले) मनुष्यके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रसबुद्धि निवृत्त नहीं होती। परंतु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेपर इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यकी रसबुद्धि भी निवृत्त हो जाती है।'

तात्पर्य है कि जब संसारसे अपनी भिन्नता तथा परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है, तब नाशवान् (संयोगजन्य)

---

* रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'वशीभूत अन्तःकरणवाला साधक राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है। प्रसन्नता प्राप्त होनेपर साधकके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्न चित्तवाले साधककी बुद्धि निःसन्देह बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है।'

† शब्दादि विषय इन्द्रियोंके आहार हैं। उन विषयोंसे जिसने अपनी इन्द्रियोंको हटा लिया है, उसको यहाँ 'निराहारी' कहा गया है।

रसकी निवृत्ति हो जाती है। नाशवान् रसकी निवृत्ति होनेपर अविनाशी (शान्त, अखण्ड तथा अनन्त) रसकी जागृति हो जाती है।

तत्त्वबोध होनेपर तो रस सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है, पर तत्त्वबोध होनेसे पहले भी उसकी उपेक्षासे, विचारसे, सत्संगसे, सन्तकृपासे रस निवृत्त हो सकता है। जिनकी रसबुद्धि निवृत्त हो चुकी है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके संगसे भी रस निवृत्त हो जाता है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों साधनोंसे नाशवान् रसकी निवृत्ति हो जाती है। जब कर्मयोगमें सेवाका रस, ज्ञानयोगमें तत्त्वके अनुभवका रस और भक्तियोगमें भगवत्स्मरणका रस मिलने लगता है, तब नाशवान् रस स्वतः छूट जाता है। जैसे बचपनमें खिलौनोंमें रस मिलता था, पर बड़े होनेपर जब रुपयोंमें रस मिलने लगता है, तब खिलौनोंका रस स्वतः छूट जाता है, ऐसे ही साधनका रस मिलनेपर भोगोंका रस स्वतः छूट जाता है।

११. कर्मयोगसे कल्याण

परमात्माके साथ जीवका नित्ययोग अर्थात् नित्य-सम्बन्ध है। इस नित्ययोगको ही गीताने 'योग' नामसे कहा है। इस योगका कभी वियोग नहीं होता। परंतु जब जीव जड़ प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध मान लेता है, तब वह इस नित्ययोगसे विमुख हो जाता है, इसको भूल जाता है। जड़के साथ माने हुए इस सम्बन्धको ही 'अहम्' (ग्रन्थिरूप अहंकार) कहते हैं। यद्यपि जीवका प्रकृति और उसके कार्यसे नित्यवियोग है, तथापि उसके साथ अपना संयोग मान लेनेके कारण उसको नित्ययोगमें वियोग और नित्यवियोगमें संयोग दीखने लगता है अर्थात् उसको नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त दीखने लगते हैं और नित्य-निवृत्त शरीर-संसार प्राप्त दीखने लगते हैं। इस भूलको मिटानेके लिये भगवान्‌ने तीन मुख्य योग-साधनोंका वर्णन किया है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग*।

जबतक अहम् रहता है, तबतक साधकोंमें तथा उनके साधनोंमें भेद रहता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन भेद भी अहम्‌के कारण ही हैं। अहम् मिटनेपर अर्थात् साधन सिद्ध होनेपर कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका भेद भी सर्वथा मिट जाता है।

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्तां नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीन साधनोंमें ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रचार तो अधिक है, पर कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है कि 'बहुत समय बीत जानेके कारण यह कर्मयोग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है'—**'स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप'** (४। २)। इसलिये कर्मयोगके सम्बन्धमें यह धारणा बनी हुई है कि यह परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगका पालन करनेवाला साधक या तो ज्ञानयोगमें चला जाता है अथवा भक्तियोगमें चला जाता है; जैसे—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय (ज्ञानयोगका अधिकारी न बन जाय) अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवणादिमें श्रद्धा न हो जाय (भक्तियोगका अधिकारी न बन जाय)।'

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५। ७)

'सबसे पहले अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रोंमें वर्णित क्रियाओंका यथावत् पालन करके चित्त शुद्ध हो जानेपर उन क्रियाओंका त्याग कर दे। फिर शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय।'

परंतु इसके साथ ही यह बात भी आती है कि कर्मयोग

परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन भी है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥*

(५। ४-५)

'बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन। कारण कि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है। सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।'

गीतामें अनेक स्थानोंपर कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्वज्ञान, परमशान्ति, मुक्ति अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी बात आयी है; जैसे—

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४। ३८)

'वह कर्मयोगी उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है।'

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ (५। ६)

'मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४। २३)

* यहाँ चौथे श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके उत्तरार्धसे है और चौथे श्लोकके उत्तरार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके पूर्वार्धसे है।

'केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं।'

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ (४। १९)

'जिस (कर्मयोगी महापुरुष) के सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है।'

श्रीमद्भागवतमें भी कर्मयोगको परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया गया है—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥

(११। २०। १०)

'जो स्वधर्ममें स्थित रहकर तथा भोगोंकी कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करता है तथा सकामभावपूर्वक कोई कर्म नहीं करता, उसको स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता अर्थात् वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११। २०। ११)

'स्वधर्ममें स्थित वह कर्मयोगी इस लोकमें सब कर्तव्यकर्मोंका

आचरण करते हुए भी पाप-पुण्यसे मुक्त होकर बिना परिश्रमके तत्त्वज्ञानको अथवा परमप्रेम (पराभक्ति) को प्राप्त कर लेता है।'

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति) की प्राप्ति भी हो सकती है।

कर्मयोगी मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देता है। इस प्रकार मिली हुई वस्तुओं (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्) का प्रवाह संसारकी तरफ हो जानेसे उसका जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर चेतन-तत्त्व शेष रह जाता है अर्थात् कर्मयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें (चेतन स्वरूपमें) स्थितिका अनुभव कर लेता है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २। ५५)

'हे पार्थ! जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी तरह त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषको अपने-आपमें स्थितिका अनुभव कैसे होता है, इसको बताते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १७-१८)

'जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें ही तृप्त तथा अपने-आपमें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए) महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ) इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

अपने-आपमें स्थितिका अनुभव होनेपर उसका प्रकृति (गुणविभाग और कर्मविभाग) से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जबतक मनुष्य प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मानता है, तबतक वह प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको अपने द्वारा की जानेवाली मानता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(गीता ३। २७)

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; परंतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मानता है।'

परंतु जो गुणविभाग और कर्मविभागको तत्त्वसे जाननेवाला

है अर्थात् जिसने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, वह कर्मयोगी महापुरुष न तो गुणोंमें आसक्त होता है और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गीता ३। २८)

'हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६। ४)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।'
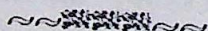
जो क्रोधमें आकर अथवा किसी बातसे दुःखी होकर आत्महत्या कर लेता है, वह दुर्गतिमें चला जाता है अर्थात् भूत-प्रेत-पिशाच बन जाता है। आत्महत्या करनेवाला महापापी होता है। कारण कि यह मनुष्य-शरीर भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः भगवत्प्राप्ति न करके अपने ही हाथसे मनुष्य-शरीरको खो देना बड़ा भारी पाप है, अपराध है, दुराचार है। दुराचारीकी सद्‌गति कैसे होगी? अतः मनुष्यको कभी भी आत्महत्या करनेका विचार मनमें नहीं आने देना चाहिये।

—दुर्गतिसे बचो नामक पुस्तकसे

बदला लेनेकी भावना हमारी गलती है, भूल है। वह तो हमारे कर्मोंका फल भुगताकर हमें पवित्र कर रहा है। अतः यदि आपको बदला चुकाना हो तो सबसे पहले उसकी सेवा करो। जो दुःख देनेकी चेष्टा करता है, वह (पापोंका फल भुगताकर) आपको शुद्ध कर रहा है, आपका उपकार कर रहा है। उसका बदला लेना हो तो अपने तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे उसकी सेवा करो, उसे सुखी बनाओ।

—नित्ययोगकी प्राप्ति नामक पुस्तकसे

गृहस्थको चाहिये कि वह धन कमानेकी अपेक्षा बच्चोंके चरित्रका ज्यादा ख्याल रखें; क्योंकि कमाये हुए धनको बच्चे ही काममें लेंगे। अगर बच्चे बिगड़ जायँगे तो धन उनको और ज्यादा बिगाड़ेगा। इस विषयमें अच्छे पुरुषोंका कहना है—***'पूत सपूत तो क्यों धन संचै? पूत कपूत तो क्यों धन संचै?'*** अर्थात् पुत्र सपूत होगा तो उसको धनकी कमी रहेगी नहीं और कपूत होगा तो संचय किया हुआ सब धन नष्ट कर देगा, फिर धनका संचय क्यों करें?

—गृहस्थमें कैसे रहें नामक पुस्तकसे

श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

465 साधन-सुधा-सिन्धु—
400 कल्याण-पथ—
401 मानसमें नाम-वन्दना—
605 जित देखूँ तित तू—
406 भगवत्प्राप्ति सहज है—
535 सुन्दर समाजका निर्माण—
1175 प्रश्नोत्तर मणिमाला—
1247 मेरे तो गिरधर गोपाल—
403 जीवनका कर्तव्य—
436 कल्याणकारी प्रवचन—
405 नित्ययोगकी प्राप्ति—
1093 आदर्श कहानियाँ—
407 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता—
408 भगवान्से अपनापन—
861 सत्संग-मुक्ताहार—
409 वास्तविक सुख—
1308 प्रेरक कहानियाँ—
411 साधन और साध्य—
412 तात्त्विक प्रवचन—
414 तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार—
410 जीवनोपयोगी प्रवचन—
822 अमृत-बिन्दु—
821 किसान और गाय—
416 जीवनका सत्य—
417 भगवन्नाम—
418 साधकोंके प्रति—
419 सत्संगकी विलक्षणता—
545 जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग—
420 मातृशक्तिका घोर अपमान—
421 जिन खोजा तिन पाइयाँ—
422 कर्मरहस्य—
424 वासुदेवः सर्वम्—
425 अच्छे बनो—
426 सत्संगका प्रसाद—
1019 सत्यकी खोज—
1035 सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण—
1360 तू-ही-तू—

1176 शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे हैं? विचार करें—
431 स्वाधीन कैसे बनें?—
702 यह विकास है या विनाश जरा सोचिये—
589 भगवान् और उनकी भक्ति—
617 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम—
427 गृहस्थमें कैसे रहें?—
432 एकै साधे सब सधै—
433 सहज साधना—
434 शरणागति—
435 आवश्यक शिक्षा—(सन्तानका कर्तव्य एवं आहार-शुद्धि)
1012 पञ्चामृत—(१०० पन्नोंका पैकेटमें)
1037 हे मेरे नाथ मैं आपको भूलूँ नहीं—(१०० पन्नोंका पैकेटमें)
1072 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?—
730 संकल्पपत्र—
515 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन—
770 अमरताकी ओर—
438 दुर्गतिसे बचो—
439 महापापसे बचो—
440 सच्चा गुरु कौन?—
444 नित्य-स्तुति और प्रार्थना—
729 सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण—
445 हम ईश्वरको क्यों मानें?—
745 भगवत्तत्त्व—
632 सब जग ईश्वररूप है—
447 मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा—
1408 सब साधनोंका सार—
1434 एक नयी बात—
1440 परम पितासे प्रार्थना—
1441 संसारका असर कैसे छूटे?—
1447 मानवमात्रके कल्याणके लिये—
1462 " " (विशिष्ट संस्करण)—
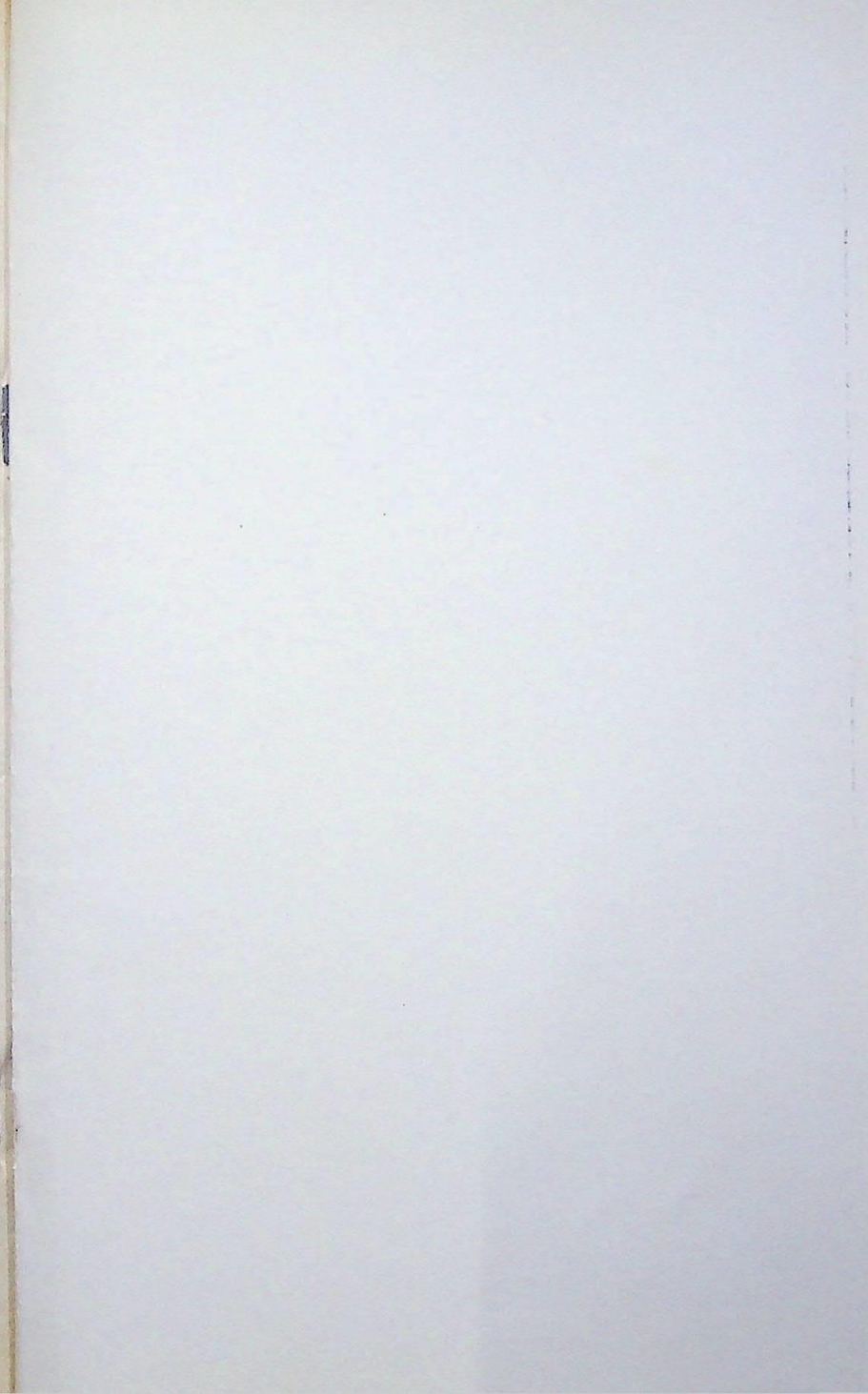
'गीताप्रेस' गोरखपुरकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

गोरखपुर-२७३००५	गीताप्रेस —पो० गीताप्रेस website : www.gitapress.org / e-mail: booksales@gitapress.org	✆ (०५५१) २३३४७२१; फैक्स २३३६९९७
दिल्ली-११०००६	२६०९, नयी सड़क	✆ (०११) २३२६९६७८; फैक्स २३२५९१४०
कोलकाता-७००००७	गोबिन्दभवन-कार्यालय; १५१, महात्मा गाँधी रोड e-mail:gobindbhawan@gitapress.org	✆ (०३३) २२६८६८९४; फैक्स २२६८०२५१
मुम्बई-४००००२	२८२, सामलदास गाँधी मार्ग (प्रिन्सेस स्ट्रीट) मरीन लाइन्स स्टेशनके पास	✆ (०२२) २२०७२६३६
कानपुर-२०८००१	२४/५५, बिरहाना रोड	✆ (०५१२) २३५२३५१; फैक्स २३५२३५१
पटना-८००००४	अशोकराजपथ, महिला अस्पतालके सामने	✆ (०६१२) २३००३२५
राँची-८३४००१	कोर्ट सराय रोड, अपर बाजार, बिड़ला गद्दीके प्रथम तलपर	✆ (०६५१) २२१०६८५
सूरत-३९५००१	वैभव एपार्टमेन्ट, नूतन निवासके सामने, भटार रोड e-mail: suratdukan@gitapress.org;	✆ (०२६१) २२३७३६२, २२३८०६५
इन्दौर-४५२००१	जी० ५, श्रीवर्धन, ४ आर. एन. टी. मार्ग	✆ (०७३१) २५२६५१६, २५११९७७
जलगाँव-४२५००१	७, भीमसिंह मार्केट, बल्लभदास बालजी वाचनालय एवं रेलवे स्टेशनके पास	✆ (०२५७) २२२६३९३
हैदराबाद-५०००९६	४१, ४-४-१, दिलशाद प्लाजा, सुल्तान बाजार	✆ (०४०) २४७५८३११
नागपुर-४४०००२	श्रीजी कृपा कॉम्प्लेक्स, ८५१, न्यू इतवारी रोड	✆ (०७१२) २७३४३५४
कटक-७५३००९	भरतिया टावर्स, बादाम बाड़ी	✆ (०६७१) २३३५४८१
रायपुर-४९२००९	मित्तल कॉम्प्लेक्स, गंजपारा, तेलघानी चौक (छत्तीसगढ़)	✆ (०७७१) ५०३४४३०
वाराणसी-२२१००१	५९/९, नीचीबाग e-mail:varanasidukan@gitapress.org	✆ (०५४२) २४१३५५१
हरिद्वार-२४९४०१	सब्जीमण्डी, मोतीबाजार	✆ (०१३३४) २२२६५७
ऋषिकेश-२४९३०४	गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम e-mail:gitabhawan@gitapress.org	✆ (०१३५) २४३०१२२, २४३२७९२

स्टेशन-स्टाल— दिल्ली जंक्शन (प्लेटफार्म नं० १२); नयी दिल्ली (नं० ८-९); हजरत निजामुद्दीन [दिल्ली] (नं० ४-५); कोटा [राजस्थान] (नं० १); बीकानेर (नं० १); गोरखपुर (नं० १); कानपुर (नं० १); लखनऊ [एन० ई० रेलवे]; वाराणसी (नं० ४-५); मुगलसराय जं० (नं० ३-४); हरिद्वार (नं० १); पटना जं० (मुख्य प्रवेशद्वार); राँची (नं० १); धनबाद (नं० २-३); मुजफ्फरपुर (नं० १); समस्तीपुर (नं० २); हावड़ास्टेशन (नं० ५ तथा १८ दोनोंपर); सियालदा मेन (नं० ८); आसनसोल (नं० ५); कटक (नं० १); भुवनेश्वर (नं० १); राऊरकेला (पुस्तक-ट्राली); राजगांगपुर (पुस्तक-ट्राली); औरंगाबाद [महाराष्ट्र] (नं० १); सिकन्दराबाद [आं० प्र०] (नं० १); गुवाहाटी जं० (मुसाफिरखाना); खड़गपुर (नं० १-२); रायपुर [छत्तीसगढ़] (नं० १) एवं अन्तर्राज्यीय बस-अड्डा, दिल्ली।

फुटकर पुस्तक-दूकानें

चूरू-३३१००१	ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, पुरानी सड़क ✆ (०१५६२) २५२६७४
ऋषिकेश-२४९१९२	मुनिकी रेती
तिरुपति-५१७५०४	शॉप नं० ५६, टी० टी० डी० मिनी शॉपिंग कॉम्प्लेक्स, तिरुमलाई हिल्स

ISBN 81-293-0230-6

Code 414